UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180973

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—552—7-7-66—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81.092 G688 Accession No. G. H. 471

Author जैन, राजेन्द्रसिंह

Title संत कबीर दर्शन । 1955

This book should be returned on or before the date last marked below.

संत कबीर दर्शन

[जीवन और कृतित्व की आलोचना]

●

राजेन्द्र सिंह गौड़, एम० ए०

●

साहित्य भवन लिमिटेड

इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : सन् १९५५ ई०

दो रुपया

मुद्रक : राम आसरे कक्कड़
हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद

भूमिका

साधना और अनुभूति का अंचल पकड़कर जीवन के अंतस् में प्रवेश करनेवाले हमारे संतों ने, आज से लगभग पाँच-छः सौ वर्ष पूर्व, जो अमर रागिनी छेड़ी थी उसमें समस्त चराचर के हृदय-खंड को रस-प्लावित करने की क्षमता तो ही थी, साथ ही संसार का सारा वैषम्य; सारा विरोध अस्तित्व-रहित करने की उसमें अद्भुत शक्ति भी थी। यही उनका सर्वात्मभाव था जिसमें जीवन से ऊबे हुए जीवों को अमर शांति मिलती थी और जीवन एवं मृत्यु का द्वैत मिटकर 'अमर जीवन का अनंत संगीत' के रूप में परिणत हो जाता था। कबीर भी ऐसे ही संत थे। उन्होंने जीवन के वास्तविक रहस्य को समझा था और अंतस् का पर्दा हटाकर अपने 'परमतत्व' की 'झाँकी' देखी थी। हिन्दी-संत-साहित्य के वह अग्रदूत थे। उन्होंने जो कुछ कहा उसकी एक-एक लय में मानव-हृदय का शाश्वत संगीत है और उसमें उनके आत्मचिन्तन, आत्मविश्वास, एवं अनुभूति को वाणी मिली है। इन विशेषताओं के साथ ही उसमें उनके युग का धार्मिक इतिहास भी ओतप्रोत है। उनके पूर्व और भी संत मिलते हैं, पर उनमें उनकी-सी सूझ-बूझ नहीं है। उनका चिन्तन और मनन किसी प्रभाव विशेष के अन्तर्गत न होकर सर्वथा मौलिक है। उन्होंने जो कुछ सोचा, जो कुछ कहा, सब मानव-कल्याण की उच्च भावना से ही प्रेरित होकर किया। वह बहुत ऊँचे उठे हुए संत थे। इस समय हिन्दी में उनके जीवन, कृतित्व एवं मत का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करनेवाले कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं और उनमें उनके संबंध में फैली हुई अनेक भ्रान्तियों को दूर करने की सफल चेष्टा की गयी है। डा० श्यामसुन्दर दास, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० रामकुमार वर्मा, डा० बड़थ्वाल, डा० त्रिगुणायत, श्री पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव तथा पं० परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी-अपनी रचनाओं में बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से कबीर के विचारों की व्याख्या की है। 'संत कबीर-दर्शन' इसी दिशा में मेरा एक तुच्छ प्रयास है।

अपनी प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन में मैंने उक्त सभी आलोचकों की रचनाओं से लाभ उठाया है और कबीर को उनके वास्तविक रूप में समझने-समझाने की चेष्टा की है। इसका उद्देश्य संक्षेप में विद्यार्थियों को कबीर की विचार-धारा आदि से परिचय कराना मात्र है। कबीर अपनी रचनाओं में कहीं-कहीं इतने जटिल और रहस्यमय हैं कि उनका वास्तविक अर्थ लगाना मेरे जैसे व्यक्ति के बस के बाहर की बात है। इसलिए मैंने उनकी रचनाओं की समीक्षा करते हुए केवल उन्हीं रचनाओं को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है जो सरल, बोध-गम्य तथा कबीर की विचार-धारा के प्रतीक हैं। इसके अतिरिक्त इसमें कबीर की विचार-धारा के केवल उन्हीं पक्षों पर विचार किया गया जो विद्यार्थियों के लिए उपयोगी हैं। ऐसी दशा में मुझे विश्वास है कि इस पुस्तक से विद्यार्थियों को कबीर का वास्तविक रूप समझने में विशेष सहायता मिलेगी। इन शब्दों के साथ मैं अपने उन सभी आलोचकों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना अपना कर्तव्य समझता हूँ जिनकी रचनाओं से प्रभावित होकर मैंने इस पुस्तक के प्रणयन का साहस किया है। श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ने इसकी रचना के समय मुझे अपने अमूल्य विचारों का योग-दान देकर जो सहायता की उसके लिए भी मैं उनकी प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। इसमें जो त्रुटियाँ होंगी वे मेरी अपनी हैं। यदि विज्ञ पाठकों ने इनकी ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया तो अगले संस्करण में मैं उन्हें सुधारने का भरसक प्रयत्न करूँगा।

२५७, मीरपुरा : इलाहाबाद—३
१४-६-५५

राजेन्द्र सिंह गौड़

विषय सूची

विषय		पृष्ठ
१. जीवन-परिचय	...	१
२. कबीर का समय	...	१०
३. कबीर का व्यक्तित्व	...	१३
४. कबीर का महत्व	...	१७
५. कबीर की रचनाएँ	...	२३
६. कबीर के सिद्धान्त	...	२४
७. कबीर की भक्ति का स्वरूप	...	३५
८. कबीर की सहज समाधि	...	४१
९. कबीर की काव्य-साधना	...	४६
१०. कबीर का रहस्यवाद (१)	...	५१
११. कबीर पर प्रभाव	...	६३
१२. कबीर की समन्वय साधना	...	७३
१३. कबीर की प्रतीक योजना	...	८०
१४. कबीर की उलटवाँसियाँ	...	८३
१५. कबीर की शैली	...	८७
१६. कबीर की भाषा	...	९०
१७. कबीर का प्रभाव	...	९७
१८. कबीर और जायसी	...	१०१
१९. हिन्दी-साहित्य में कबीर का स्थान	...	११८

—:o:—

संत कबीर

जन्म संवत् १४२५ मृत्यु-संवत् १५०५

जीवन-परिचय

संत कबीर का जीवन-वृत्त उनकी रचनाओं के समान ही रहस्यमय है। उनका जन्म कब और कहाँ हुआ ?—यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। कबीर-पंथियों का विश्वास है कि वह ज्योति-स्वरूप होकर लहरतारा के कमल पत्र पर अवतीर्ण हुए थे। 'भक्तमाल रामरसिकावली' के अनुसार उनका जन्म, स्वामी रामानन्द के आशीर्वाद के फलस्वरूप एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ था। उस विधवा ब्राह्मणी ने लोक-लज्जा के भय से उन्हें लहरतारा तालाब के निकट फेंक दिया। संयोगवश नीरू नाम का एक जुलाहा अपनी पत्नी नीमा के साथ उसी मार्ग से जा रहा था। नीरू संतानहीन था। अतएव उसने नवजात शिशु के करुण क्रन्दन से द्रवीभूत होकर उसे उठा लिया और पुत्रवत उसका पालन-पोषण किया। परन्तु इस कथा का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। कबीर ने स्वय अपनी रचनाओं में अपनी जन्म-तिथि आदि के संबंध में कहीं भी सकेत नहीं किया है। ऐसी दशा में उनके जीवन की सभी घटनाएँ विवादास्पद हो गयी हैं। कुछ लोग उनकी जन्म तिथि के संबंध में निम्न पद प्रस्तुत करते हैं :—

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार एक ठाट ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रगट भए॥

उपर्युक्त पद के मूल रचयिता कौन हैं और कब इसकी रचना हुई ?—इन दोनों प्रश्नों का उचित उत्तर नहीं मिलता। फिर भी इस रचना के आधार पर अधिकांश लोगों का मत यही है कि कबीर का जन्म ज्येष्ठ पूर्णिमा, सोमवार, सं० १४५५ को हुआ था। डा० रामकुमार वर्मा ने इसी तिथि का समर्थन किया है, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह भी भ्रमात्मक है। कबीर-पंथी कबीर का जीवन-

काल ३०० वर्ष का मानते हैं और अपने मत की पुष्टि में निम्न दोहा प्रस्तुत करते हैं :—

संवत बारह सौ पांच में, ज्ञानी कियो बिचार।
काशी में परगट भयो, शब्द कहो टकसार॥

पहले पद की भाँति ही इस दोहे के रचयिता का भी पता नहीं चलता। इसलिए यह भी विश्वसनीय नहीं है। तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में कबीर का जन्म मानना न तो इतिहास की दृष्टि से उचित है और न तर्क की दृष्टि से। डा० श्यामसुन्दर दास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर का जन्म-संवत १४५६ स्वीकार किया है, परन्तु इसका भी कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने इन समस्त मतों पर अपनी रचना 'उत्तरी भारत की संत परम्परा' में बड़ी गंभीर दृष्टि से विचार किया है और संत ज्ञानेश्वर (सं० १३३२-५३), महाराष्ट्र संत नामदेव (सं० १३२७-१४०७), संत एकनाथ (सं० १५९०-१६५६), नरसी मेहता (सं० १४७२-१५३८), जायसी (सं० १५५१-१६४०), सूरदास (सं० १५४०-१६२०), आसाम के प्रसिद्ध भक्त शंकरदेव (सं० १५०६-१६२५), सिकन्दरलोदी (सं० १५४६-७४), शेख़ तक़ी मानिकपूरी (मृ० सं० १६३२), शेख़ तक़ी झूँसीवाले (सं० १३७७-१४८६) गुरुनानक (सं० १५२६-९६), भक्त दादू (सं०१६०१-६०), मीराँबाई (सं० १५५५-१६०३), विद्यापति (सं० १४१७-१५०५), पीपा जी (ज० सं० १४६५-१४७५ के लगभग), स्वामी रामानन्द (सं० १३५६-१४६७) आदि सब के जीवन-काल की ऐतिहासिक दृष्टि से मीमांसा करने के पश्चात् वह इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि कबीर का जन्म संवत् १४२५ होना चाहिए। डा० बड़थ्वाल का मत भी इस से मिलता जुलता है। ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में उनका यह निश्चय भी सदिग्ध ही है, पर जबतक इसके विरुद्ध पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते तबतक हमें इसी से संतोष करना चाहिए।

कबीर की जन्म-तिथि की भाँति ही उनका जन्म-स्थान भी संदिग्ध है। कुछ लोग उनका जन्म-स्थान मगहर, कुछ लोग आज़मगढ़ का बेलहरा ग्राम और कुछ लोग काशी मानते हैं। मगहर बस्ती ज़िले का एक साधारण ग्राम है

और आमी नाम की एक छोटी नदी के किनारे बसा हुआ है। यहाँ अधिकतर जुलाहे रहते हैं। इस स्थान को कबीर का जन्म-स्थान माननेवाले अपने मत की पुष्टि में निम्न दोहा प्रस्तुत करते हैं :—

तोरे भरोसे मगहर बसिओं, मेरे तन की तपन बुझाई।
पहले दरसन मगहर पाइयो. पुनि कासी बसे आई॥

उक्त दोहे के आधार पर डा० बड़थ्वाल ने अपनी रचना 'दि निर्गुन स्कूल आव हिन्दी पोएट्री' तथा डा० गोविन्द त्रिगुणायत एम० ए० ने अपनी रचना 'कबीर की विचारधारा' में कबीर का जन्म-स्थान मगहर माना है। पं० परशुराम चतुर्वेदी इस मत के विरुद्ध हैं। उनका कहना है कि 'दरसन पाइयो' का अर्थ जन्म लेना नहीं होता। इसका सीधा-सादा अर्थ इष्ट देव आदि के साक्षात करने का ही हो सकता है। इसी प्रकार 'बनारस गजेटियर' में उल्लखित बेलहरा गाँव को भी वह कबीर का जन्म स्थान नहीं मानते। बेलहरा गाँव का उल्लेख न तो कबीर-पंथियों की रचनाओं में ही मिलता है और न किसी अन्य ग्रन्थ में। काशी के पक्ष में उनका मत अवश्य है। 'धनी धरमदास की शब्दावली' में एक पद है :—

प्रगट भये कासी में दास कहाइया।

उपर्युक्त पद के अतिरिक्त अन्य पदों से भी कबीर का जन्म-स्थान काशी ही स्पष्ट होता है। कबीर के कई पद भी यही सिद्ध करते हैं कि काशी से उन्हें विशेष प्रेम था। अपने को 'कासी का जुलाहा' तो उन्होंने अनेक पदों में कहा है :—

तू बांभन मैं कासी का जुलाहा, चीन्ह न मोर गियाना।

× × ×

दास जुलाहा नाम कबीरा, बनि बनि फिरौं उदासी।

उक्त पदों से यह स्पष्ट है कि उनका जन्म काशी के एक जुलाहा-परिवार में हुआ था। 'हम घरि सूतु तनहि नित ताना' तथा 'बुनि-बुनि आप आपु पहिरावउ' से यह भी सूचित होता है कि वह जाति से ही जुलाहे न थे, उनके घर में उक्त जाति का व्यवसाय भी होता था। कहीं-कहीं उन्होंने अपने को 'कोरी'

और 'बनजारा' भी कहा है। इससे लोगों को ऐसा भ्रम हो जाता है कि वह जाति के 'कोरी' अथवा 'बनजारा' थे, परन्तु अन्तस्साक्ष्य से यह प्रमाणित नहीं होता। 'कोरी' हिन्दुओं की एक जाति विशेष है और 'बनजारा' शब्द का प्रयोग उन्होंने उस जुलाहे के लिए किया है जो आस-पास के बाज़ारों में अपना वस्त्र बेचा करते थे। ऐसा लगता है कि इन शब्दों का प्रयोग उन्होंने अपने व्यवसाय के विभिन्न रूपों को स्पष्ट करने के लिए ही किया है। ऐसी दशा में हमें यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होती कि वह मुसलमान थे और जुलाहे का व्यवसाय करते थे। उनके परिवार में ईद-बक़रीद के त्योहार मनाए जाते थे, गो-वध होता था और 'सेख, सहीद, पीरा' की मान्यता थी। उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र मुर्दों के दफनाने, अल्लाह-द्वारा एक ही नूर पैदा किए जाने, 'खाक एक, सूरत बहुतेरी' तथा, 'करम करीमा लिखि रह्या, अब कछू लिख्या न जाई' आदि के उल्लेख से भी वह मुसलमान ही सिद्ध होते हैं। रज्जब जी (सं० १६२४-१७४६) की पंक्ति से यह भी स्पष्ट होता है कि उनका जन्म जुलाहिन के गर्भ से ही हुआ था। 'कबीर-कसौटी' से भी यही बात स्पष्ट होती है। इसलिए वह न तो 'कोरी' थे, न 'बनजारा' और न 'जोगी'। हिन्दू विधवा के गर्भ से भी वह उत्पन्न नहीं हुए थे। वह जन्म से ही मुसलमान थे।

कबीर के परिवार के सम्बन्ध में श्रद्धालु कबीर-पंथी कुछ भी कहना नहीं चाहते। उनका दृढ़ विश्वास है कि वह नित्य, अजर और अमर हैं। वह सत्य-लोक में निवास करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर प्रत्येक युग में अवतार धारण करते हैं। कलियुग में उन्होंने लहरतारा तालाब के कमल-पत्र पर एक अलौकिक ज्योति के रूप में अवतार लिया था जो बालक रूप में नीरु तथा नीमा नामी जुलाहे दम्पति को मिला। नीरू और नीमा ने उसे अपने घर लाकर पुत्रवत उसका पालन-पोषण किया और उसका नाम कबीर रखा। जो भी हो, ऐतिहासिक दृष्टि से कबीर पंथियों की यह धारणा विशेष महत्त्व की नहीं है। इसी प्रकार विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न होने की कथा भी केवल कथा ही है। इतना सर्वमान्य अवश्य है कि उनके पिता का नाम नीरू अथवा नूरी और माता

का नाम नीमा था। उनके परिवार में कुल ७ प्राणी थे—वह स्वयं, उनके माता-पिता—नूरी और नीमा, उनकी दो स्त्रियाँ—लोई और धनियाँ, एक पुत्र कमाल और एक पुत्री कमाली। इन सबके भरण-पोषण का भार कबीर पर ही था। आर्थिक दृष्टि से उनका परिवार सुखी नहीं था। वह प्रायः रामधुन में मस्त रहते थे और साधु-संतों के सम्मान में अपनी सारी पूँजी व्यय कर देते थे। इससे उनकी माता उन्हें बराबर उलाहना दिया करती थीं और दुःखी रहती थीं। उनकी धार्मिक भावना भी कुल-परंपरा के अनुकूल नहीं थी और यह भी उनकी माता के लिए दुःख का कारण बन गया था। कबीर कहते हैं:—

कहत कबीर सुनहु मेरी माई। इन मुंडीअन मेरी जाति गँवाई॥

× × ×

हमारे कुल कउने रामु न कहिओ। जबकी माला लई निपूते तबते सुख न भइयो॥

× × ×

निति उठि कोरी गागर आनै; लीपत जीउ गइओ।
ताना बाना कछू न सूझै हरि-हरि-रस लपटिओ॥

× × ×

मुसि-मुसि रोवै कबीर की माई। ए वारिक कैसे जीवहि रघुराई॥

स्पष्ट है कि कबीर अपने पारिवारिक जीवन में आर्थिक दृष्टि से सुखी नहीं थे। वह जो कुछ कमाते थे उसका अधिकांश साधु-संतों की आवभगत में ही व्यय कर देते थे। भगवद्भक्ति में ही उनका चित्त लगा रहता था। दान और भिक्षा के भरोसे पड़े रहने के वह पक्षपाती नहीं थे। उन्होंने कभी किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया। वह अपने परिश्रम में विश्वास करते थे और उससे उन्हें जो कुछ मिल जाता था वही उनकी तथा उनके परिवार की जीविका का आधार था। वह परम संतोषी थे। गार्हस्थ्य-धर्म का पालन करते हुए भी वह गृहस्थ नहीं थे, लौकिक होते हुए भी वह लौकिक नहीं थे। वह परम त्यागी, उदार, स्वाभिमानी और अपनी टेक के धनी थे। सादा जीवन उन्हें पसन्द था। आडम्बरों से वह दूर रहते थे। व्रत, रोज़ा, नमाज़ में उनका विश्वास नहीं था। उनकी माता कट्टर मुसलमान थीं और वह धार्मिक मामलों में उनकी भर्त्सना भी की किया

करती थीं, परन्तु उन्होंने कभी उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। वह हृदय की शुद्धता में विश्वास करते थे। मुसलमान होते हुए भी वह अपने पैतृक धर्म में आस्था नहीं रखते थे।

कबीर अशिक्षित थे। किसी पाठशाला में अथवा किसी अध्यापक से उन्होंने अक्षर-ज्ञान तक प्राप्त नहीं किया। वह जिस कुल अथवा समाज में उत्पन्न हुए थे उसमें साक्षरता का कोई महत्त्व भी नहीं था। अपनी शिक्षा के संबंध में वह स्वयं लिखते हैं :—

मसि कागद छूयो नहीं, कलम गहयो नहिं हाथ।
चारो जुग का महातम, मुखहि जनाई बात॥

बात बेढंगी जान पड़ती है, पर है सत्य। उन्हें अक्षर-ज्ञान था ही नहीं। किसी धर्म-विशेष का भी अध्ययन उन्होंने नहीं किया। वह सत्संगी थे। सत्संग के प्रभाव से ही उन्होंने सब कुछ सीखा। वह जीवन में, धर्म में सत्य के उपासक थे। सत्य ही उनकी साधना का चरम लक्ष्य था। इसलिए उन्हें बहुत भटकना नहीं पड़ा। जिस प्रकार एक विद्यार्थी अपने विषय के मूलाधार को पाकर उसका विशेषज्ञ बन जाता है और उसे जैसी भी भाषा उसके पास होती है उसमें उसे व्यक्त करने लगता है, उसी प्रकार कबीर ने मानव धर्म के सत्य को हस्तगत करके, जब जैसी भाषा उन्हें मिला उसमें उन्होंने उसे व्यक्त कर दिया। सत्य ने उन्हें सारी विद्याएँ, सारी कलाएँ सिखा दीं। यही उनकी श्रेष्ठता का द्योतक है और हमारा विश्वास कि विश्व के संत कवियों में उनकी जोड़ का कोई संत-कवि नहीं है।

कबीर किसी संप्रदाय में दीक्षित थे अथवा नहीं?—यह भी एक विवाद ग्रस्त प्रश्न है। विद्वानों ने इस संबंध में अपने तीन मत दिए हैं। प्रथम मत स्वामी रामानन्द (सं० १३५६-१४६७) के पक्ष में, दूसरा मत शेख़ तक़ी मनिकापुरी (मृ० सं० १६३२) के पक्ष में और तीसरा मत है गोमती तीर-निवासी पीताम्बर पीर के पक्ष में। इनमें से अन्तिम दोनों मत अधिक मान्य नहीं हैं। मौ० गुलाम 'सरवर' ने अपनी पुस्तक 'खज़ीनतुल आसफ़िया' में

लिखा है कि कबीर शेख़ तक़ी के उत्तराधिकार[illegible]ये। खोज से पता चला है कि उस समय शेख़ तक़ी नाम से दो व्यक्ति प्रसिद्ध थे—एक तो थे कड़ा-मानिकपुर में चिश्तया सम्प्रदाय के अनुयायी, और दूसरे थे झूँसी में सुहर्वर्दिया सम्प्रदाय के अनुयायी। कड़ा-मानिकपुर के शेख तक़ी ऐतिहासिक दृष्टि से कबीर के समकालीन सिद्ध नहीं होते। 'बीजक' और 'रमैनी' के कुछ पदों से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि कबीर मानिकपुर गए थे। झूँसीवाले शेख़ तक़ी (सं० १५[illegible]७-१४८६) के साथ कबीर के सत्संग का होना बहुत संभव है, परन्तु उन्हें उनका शिष्य सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं हैं। 'हज हमारी गोमती तीर। जहाँ बसहिं पीताम्बर पीर' भी उनके गुरु-शिष्य-संबंध को पुष्ट नहीं करता। अब रहे स्वामी रामानन्द। बहुत दिनों से सर्व साधारण का यह अनुमान रहा है, कि स्वामी रामानन्द ही कबीर के वास्तविक गुरु थे। कबीर ने स्पष्ट रूप से कहीं भी अपने गुरू के नाम का उल्लेख नहीं किया है। 'गुरू रामानन्द चिताये' आदि पद की कोई प्रमाणिकता नहीं है। इस संबंध में जो कथा प्रचलित है उसका भी ऐतिहासिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है; परन्तु उससे इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि कबीर ने प्रत्यक्ष रूप से उनका शिष्यत्व ग्रहण नहीं किया। अप्रत्यक्ष रूप से गुरु करने की प्रथा भारत में पहले से ही चली आ रही थी और कबीर ने, जाने अथवा अनजाने, उसी का अनुसरण करके स्वामी रामानन्द को अपना गुरु मान लिया और उनके उपदेशों के प्रकाश में अपनी साधना का मार्ग प्रशस्त किया। गुरु के वचनों में ही गुरुत्व रहता है, उनके शरीर में नहीं। कबीर को ज्ञान चाहिए था और वह ज्ञान उन्हें स्वामी रामानन्द के उपदेशों से मिल गया। इसलिए शरीर-धारी गुरु की चिन्ता उन्होंने नहीं की। 'राम-नाम की पटतरे, देबे को कुछ नाहिं। क्या लै गुरु संतोषिए हौंस रही मन माहि॥'—से भी किसी शरीर-धारी गुरु के प्रति संकेत नहीं मिलता। ज्ञान ही उनका गुरु था और उसका संतोष वह कर भी कैसे सकते थे। इसी प्रकार उन्होंने जहाँ अपने पदों में 'रामानन्द' का नाम लिया है वहाँ हमारी समझ से रामानन्द के उपदेशों से ही उसका तात्पर्य होता है। ऐसा मान लेने पर जन्म तथा मृत्यु-तिथियों

अनेक कठिनाइयाँ मिट जाती हैं और उनके निम्न पदों की सार्थकता भी प्रमाणित हो जाती है :—

कहु कबीर मैं सो गुरु पाया जाका नाउ विवेक रे ।

× × ×

सबद गुरु का चेला ।

× × ×

नाद, विंद रंक इक खेला, आपै गुरु आप ही चेला ।

× × ×

सत गुर मिलेआ, मारगु दिखाइआ ।
जगत पिता मेरे मन भाइआ ॥

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि विवेक, ज्ञान, शब्द आदि को ही उन्होंने अपना गुरु माना है । यह उनकी पूर्णावस्था का द्योतक है । इस अवस्था में पहुँचकर गुरु-शिष्य का भेद नहीं रहता । अपनी इस अवस्था तक पहुँचने के लिए उन्हें जो कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं उसकी ओर उन्होंने निम्न पदों में संकेत किया है :—

वृन्दावन ढूंढ्यों, ढूंढ्यों हो जमुना को तीर ।
राम मिलन के कारने जन खोजत फिरै कबीर ॥

× × ×

जाति जुलाहा नाम कबीरा, बन बन फिरौ उदासी ।

× × ×

फाटे दीदै मैं फिरौं, नजरि न आवै कोई ।

कबीर बचपन से ही विरक्त थे, परन्तु 'बारह बरस बालपन बीते, बीस बरस कछु तपन कियो' से यह अनुमान लगाया जाता है कि लगभग ३०-३२ वर्ष की अवस्था में उन्हें पूर्ण वैराग्य हुआ । आरंभ में विभिन्न मतों के साधु-संतों का सत्संग करने और बाद को अपने विचारों का प्रचार करने के उद्देश्य से उन्होंने कई यात्राएँ भी कीं । झूँसी, मानिकपुर, वृन्दावन, मथुरा तथा जौनपुर के अन्तर्गत अजी ग्राम वह गए थे । मगहर भी वह जाते थे । यह भी कहा

जाता है कि मक्का, बग़दाद, समरक़न्द, बुख़ारा आदि की भी उन्होंने यात्रा की थी। अपनी इन यात्राओं से उन्होंने बहुत कुछ सीखा, समझा और फिर उसी के आधार पर उन्होंने अपनी उपासना का मार्ग निश्चित किया।

कबीर एकान्त साधक और तपस्वी थे। पार्थिव जगत के आकर्षणों में उनका विश्वास नहीं था। वह सर्वत्र सत्य के उपासक थे। हिन्दुओं और मुसलमानों के धार्मिक पचड़ों में वह नहीं पड़े। इन दोनों धर्मों में उन्होंने जो सत्य पाया उसे ही उन्होंने अपनाया। इसलिए कट्टर हिन्दू और कट्टर मुसलमान दोनों उनके विरोधी हो गये। ऐसी स्थिति में उन्हें काशी छोड़ना पड़ा और वह मगहर चले गये। मगहर में ही उनकी मृत्यु हुई। उन्होंने स्वयं कहा है :—

सकल जनम शिवपुरी गवाइया।
मरती बार मगहर उठि आइया॥

× × ×

बहुत बरस तप कीआ कासी।
मरन भाइआ मगहर को बासी॥

कबीर की मृत्यु-तिथि के संबंध में कई मत हैं जो इस प्रकार है :—

१. **पन्द्रह सै उन्चास में मगहर कीन्हों गौन।**
अगहन सुदि एकादशी मिले पौन में पौन॥

२. **पन्द्रह सौ औ पाँच में मगहर कीन्हों गौन।**
अगहन सुदि एकादशी, मिल्यो पौन में पौन॥

३. **संवत् पन्द्रह सौ पछत्तरा किया मगहर को गौन।**
माघ सुदी एकादशी, रलो पौन में पौन॥

४. **सुमंत पंद्रह सौ उनहत्तरा रहाई।**
सतगुर चले उठि हंसा जाई॥

उपर्युक्त तिथियों के अतिरिक्त सं० १५५१, १५५२ अथवा १५०७ को भी लोगों ने कबीर का मृत्यु-संवत स्वीकार किया है। इन समस्त तिथियों में से अधिकांश विद्वान स० १५७५ के पक्ष में हैं। आचार्य क्षिति मोहन सेन तथा

डा० बड़थ्वाल ने सं० १५०५ को प्रधानता दी है। पं० परशुराम चतुर्वेदी भी इसी मत से सहमत हैं। इस सवत् को कबीर का निधन-संवत् मानने से उनकी आयु ८० वर्ष की होती है। कबीर-पंथियों का कहना है कि जब उनकी मृत्यु हुई तब उनके शव को हिन्दुओं ने जलाना तथा मुसलमानों ने दफनाना चाहा तब वह लुप्त हो गया और उसके स्थान पर कुछ फूल बच रहे। इन फूलों को हिन्दू तथा मुसलमान शिष्यों ने आपस में बाँट लिया। इस समय मगहर में उनके मृत्यु-स्थान पर एक समाधि और एक मक़बरा बना हुआ है। अब यह कबीर-पंथियों तीर्थ-स्थान है।

कबीर का जीवन-वृत्त उनके युग का संक्षिप्त इतिहास है। इस इतिहास में हमें उस समय की राजनीतिक; सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक सभी प्रकार प्रवृत्तियों का समावेश मिलता है। **राजनीतिक** दृष्टि से यही देखा जाय तो ज्ञात होगा कि वह उथल-पुथल का युग था। सं० ७६६ में मुहम्मद बिन क़ासिम के आक्रमण से मुहम्मद ग़ोरी की विजय (सं० १२५०) तक संपूर्ण पंजाब और सिंध युद्ध की विभीषिका से आतंकित रहा और बाद को ग़ुलाम वंश (सं० १२६३-१३४७), ख़िलजी वंश (सं० १३४७-१३७७) तथा तुग़लक वश (सं० १३७७-१४६६) के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने भारत पर शासन किया। कबीर का जन्म यदि सं० १४२५ ही मान लिया जाय तो फ़ीरोज़ तुग़लक के शासन-काल (सं० १४०८-१४४५) में उनका होना सिद्ध होता है और वह फीरोज़ की मृत्यु के समय सं० १४४५ में २० वर्ष के होते हैं। भारतीय इतिहास में यह समय अत्यन्त अशान्ति का समय माना जाता है। महमूद तुग़लक की अयोग्यता, अमीरों की दलबन्दी, हिन्दू-राजाओं तथा प्रान्तीय सूबेदारों की विद्रोह-भावना और फिर सं० १४५५ में तैमूर लंग का आक्रमण—इतिहास की ऐसी घटनाएँ थीं जिनसे उस समय भारत का सम्पूर्ण राजनीतिक वातावरण विषाक्त हो गया था। दिल्ली नष्ट हो गयी थी, मुसलिम-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था, प्रान्तों के सूबेदार स्वाधीन हो गए थे और चारों ओर गड़बड़ी फैल गयी थी। दुर्भिक्ष और महामारी का भी इसी समय प्रकोप बढ़ा और सहस्रों व्यक्ति काल के ग्रास बन गये।

कबीर का समय

धन-जन और सम्पत्ति की जैसी क्षति इस समय हुई वैसी इसके पूर्व कभी भी नहीं हुई थी।

राजनीतिक वातावरण की भाँति ही तत्कालीन धार्मिक वातावरण कम विषाक्त नहीं था। एक ओर तो हिन्दू-मुसलमानों के धार्मिक झगड़े उठ खड़े हुए थे और दूसरी ओर हिन्दुओं के भिन्न-भिन्न मतों के माननेवालों में ईर्ष्या और द्वेष की भावना जड़ पकड़ती जा रही थी। शंकराचार्य और कुमारिलभट्ट जैसे प्रचारकों के प्रयत्नों से जहाँ एक ओर बौद्ध धर्म अपनी अंतिम सांस ले रहा था, वहाँ जैन धर्म तथा शैव और वैष्णव-सम्प्रदायों के भीतर भिन्न-भिन्न संगठन हो रहे थे। भारत में दक्षिणी और पश्चिमी नाथ-पंथियों का अधिक ज़ोर था और योगी, जती, सन्यासी, साकत आदि सब आपस में लड़-भिड़ रहे थे। स्वामी रामानन्द के विचारों की भी धूम थी और महाराष्ट्र प्रान्त के बारकरी सम्प्रदाय के संत नामदेव भी पंजाब में घूम-घूम कर अपने उपदेश दे रहे थे जिसके फलस्वरूप मालवा, राजस्थान तथा पञ्जाब में उनके अनेक अनुयायी बन गए थे। बौद्धों के सहजयान-सम्प्रदाय का प्रायः लोप हो चुका था और उसका केवल कुछ विकृत रूप बंगाल में पाया जाता था। इस्लाम-धर्म के अन्तर्गत उल्माओं और क़ाज़ियों की धार्मिक असहिष्णुता तो थी ही, सूफ़ी-सम्प्रदाय का भी प्रचार बढ़ रहा था और उसकी (१) चिश्तिया और (२) सुहर्वदिया नामक दो शाखाओं का जन्म हो चुका था। 'चिश्तिया शाखा' के फकीर अहमद साबिर (मृ० सं० १३८२) ने उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में अपनी 'साबिरी शाखा' की नींव डाली थी और 'सुहर्वदिया शाखा' के शेख़ तक़ी (सं० १३७७-१४८६) ने अपने उपदेशों से उत्तर प्रदेश के पूर्वी भागों को प्रभावित किया था। बंगाल में भी वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय की नींव पड़ रही थी और मैथिल-कोकिल विद्यापति की वाणी का प्रचार बढ़ रहा था। ऐसे धार्मिक वातावरण के होते हुए भी भिन्न-भिन्न विचारों एवं संस्कृतियों के संघर्ष के कारण एक ऐसे वर्ग का भी निर्माण हो रहा था जो धर्म के संकुचित घेरे से ऊँचा उठकर अपने जीवन का पथ खोज रहा था। आवश्यकता थी इस वर्ग के नेतृत्व की। 'और यह कार्य उसी के द्वारा संभव था जिसकी बुद्धि परस्पर विरोधिनी प्रवृत्तियों के बीच समन्वय

लाने के अतिरिक्त किसी स्थायी व सार्वभौम नियम एवं आदर्श का प्रस्ताव रखने में समर्थ हो।'

आलोच्य काल के भारत के धार्मिक वातावरण के सम्बन्ध में हमने अभी जिस समन्वयवादी नेतृत्व की ओर संकेत किया है उसी प्रकार के नेतृत्व की सामाजिक क्षेत्र में भी आवश्यकता थी। राजनीतिक ढांचा बिगड़ने तथा धार्मिक असहिष्णुता के कारण भारतीय समाज में जो दुर्गुण आ गए थे उनका समूल नष्ट होना वांछनीय था। ब्राह्मण-अब्राह्मण, ऊँच-नीच, छूत-अछूत, धनी निर्धनी की जटिल समस्याएँ इतनी भयंकर होती जा रही थीं कि उनसे सम्पूर्ण भारतीय समाज छिन्न-भिन्न होता जा रहा था। वर्ण-व्यवस्था के कारण हिन्दुओं के भीतर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अतिरिक्त अनेक जातियाँ और उपजातियाँ उत्पन्न हो गयी थीं और उनमें द्वेष और घृणा का प्रचार हो रहा था। आश्चर्य तो यह है कि इन सूक्ष्म विभाजनों एवं वर्गीकरणों के कारण अशांति के होते हुए भी इनका विरोध करना तो दूर रहा, भिन्न-भिन्न धर्म-ग्रन्थों के आधार पर इन्हें आवश्यक एवं धर्म-संगत बता कर पारस्परिक अनैक्य की भावना को और भी पुष्ट किया जा रहा था। इसके साथ ही समाज में आडम्बर की मात्रा भी बढ़ रही थी। क्या हिन्दू और क्या मुसलमान, सभी आडम्बर के रंग में सराबोर होते जा रहे थे। अंधविश्वास का इतना बोलबाला था कि कोई सत्य की ओर ध्यान तक नहीं देता था। नक़ली और केवल नाम के धार्मिक नेताओं की संख्या बढ़ती जा रही थी और इस प्रकार सामाजिक दुर्व्यवस्था भीषण रूप धारण करती जा रही थी। पाखंडी, धूर्त, पापी और आडंबर-प्रिय चारों ओर घूम-घूम कर अपना स्वार्थ-साधन कर रहे थे और उनके भुलावे में आकर जनता त्राहि-त्राहि कर रही थी। ऐसी थी सामाजिक दशा जो धार्मिक वातावरण के समान ही भयकर और भयावह थी।

कबीर के समय की जिन राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का उल्लेख उपर्युक्त पंक्तियों में किया गया है उनसे उस समय की साहित्यक प्रवृत्तियों का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। वह एक विशेष प्रकार के साहित्य का युग था। जो उसमें जो

साहित्य पनप सकता था वह था संत-साहित्य। सन्त साहित्य का आविर्भाव कब हुआ ?—यह बताना अत्यन्त कठिन है, परन्तु यह निश्चित है कि कबीर के बहुत पहले ही इसकी नींव पड़ चुकी थी। चौरासी सिद्ध, गुरु गोरख नाथ, नामदेव, त्रिलोचन और सधना जैसे संतों की बानियों का प्रचार हो चुका था और गीत-गोविन्दकार जयदेव (सं० १२३६-६२) तक ने कुछ ऐसे पद लिखे थे जिनकी गणना संत-साहित्य के अन्तर्गत ही की जाती थी। इस प्रकार के साहित्य में काव्य के शास्त्रीय विधि-विधानों का उपयोग कम अथवा नाम मात्र के लिए ही होता था। इसमें अधिकाश ब्रह्म-विचार, उपदेश और माया-सम्बन्धी विचार ही रहते थे। दोहा, चौपाई, सबद, गीत, बानी-आदि में संत अपनी-अपनी विचार-धारा को व्यक्त करते थे और इन्हीं को उनके शिष्य-प्रशिष्य चारों ओर गा-गा कर लोगों को मुक्ति का साधन बताते फिरते थे। संक्षेप में यह तान-पूरे का साहित्य था। इस साहित्य के साथ-साथ काव्य-रचना की शास्त्रीय पद्धति का प्रचार भी कम न था। सामन्ती दरबारों में शास्त्रीय दृष्टि से कविता करनेवाले कवि थे और उनका वहाँ बहुत सम्मान होता था। यश और अर्थ प्राप्त करने के लोभ से वे नवीन कला-कौशल दिखाते थे और हिन्दी-काव्य-शास्त्र को अपनी रचनाओं से विशेष बल प्रदान करते जा रहे थे। तात्पर्य यह कि कबीर के पूर्व जो भी साहित्य था वह केवल प्रोजन-साध्य था। संत अपने-अपने मतों का प्रचार करने के लिए अपना साहित्य तैयार कर रहे थे और शास्त्रीय विधि से कविता करनेवाले दरबारी कवि अपने-अपने सामन्तों की विरुदावली में अपनी कला का चमत्कार दिखा रहे थे। इस प्रकार देश के सामने जहाँ अनेक धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याएँ थीं वहाँ उसके सामने साहित्यिक समस्या भी अपने हल के लिए छटपटा रही थी।

कबीर का व्यक्तित्व

कबीर अपने समय के सच्चे प्रतिनिधि थे। वह अपने समय के जागरूक चिन्तक और निष्पक्ष आलोचक थे। वह निर्भीक थे। बाह्याडंबरों के प्रति प्रतिक्रिया का भाव जन्म से ही लेकर वह अवतीर्ण हुए थे। वह क्रान्ति की प्रतिमूर्ति थे। उन्होंने अपने निर्भीक विचारों से देश में, धर्म में, समाज में, दर्शन में, साधना में, क्रान्ति

की जो धारा प्रवाहित की उसने सब की आँखें खोल दीं, सब को अपनी स्थिति पर विचार करने का अवसर दिया और सब को अपने-अपने धर्म पर आरूढ़ रहने के लिए प्रोत्साहित किया। वह न तो सुधारक थे और न किसी मत-विशेष के प्रवर्तक। वह न मुसलमान थे, न हिन्दू। वह पूर्व-निश्चित किसी भी मान्यता को मानने के लिए तैयार न थे। उनकी इस प्रकार की क्रान्ति भावना किसी कामना से प्रेरित नहीं हुई थी। यह उनकी स्वभाविक विशेषता थी, उनके हृदय की प्रधान प्रवृत्ति थी। वह उस समाज में उत्पन्न हुए थे जिसे विजेता होने का अभिमान और राज्य संरक्षण प्राप्त होने का गर्व था। वह उस सम्प्रदाय में जन्म से दीक्षित थे जो अपनी धार्मिक असहिष्णुता के कारण दिन-दहाड़े अपने विरोधी सम्प्रदायवालों को मौत के घाट उतार रहा था और अपनी राज्य लिप्सा को मानवता के रक्त से शान्त कर रहा था। वह उस कुल से संबंधित थे जो आज की ही भाँति अपनी कट्टरता, अपनी हठधर्मी, अपने धार्मिक अधविश्वास और अपने अक्खड़पन के लिए प्रसिद्ध था। वह जाति के जोलाहे थे। उनका परिवार कट्टर मुसलमानी परिवार था। उनके चारों ओर उनके परिवार के लोग पंच वक्ता नमाज़ पढ़ते थे, रोज़ा रखते थे, क़ुरान का पाठ और गो-वध करते थे। परन्तु ऐसे समाज, ऐसे सम्प्रदाय, और ऐसे परिवार की में जन्म लेकर भी वह सबसे अलग-थलग रहे—यही उनके व्यक्तित्व की मुख्य विशेषता थी और अपनी इसी विशेषता के कारण उन्होंने सब की खरी आलोचना की।

कबीर श्रमजीवी थे। उत्तराधिकार के रूप में उन्हें जो व्यवसाय मिला था उसका उन्होंने कभी परित्याग नहीं किया। अपने परिवार का भरण पोषण और साधु-संतों की सेवा वह अपनी ही कमाई से करते थे। उनमें इतना आत्म-विश्वास और इतनी आत्म-निर्भरता थी कि वह जीवन की किसी भी परिस्थिति में घबड़ाते नहीं थे। उनकी माता उनके स्वतंत्र विचारों के लिए उनकी भर्त्सना करती थीं, उनकी स्त्री उन्हें साधु-संतों की सेवा में सब कुछ अर्पण कर देने के कारण कोसती और फटकारती थीं, पर वह रहते थे अडिग और अचल। उनके चेहरे पर कभी शिकन नहीं आती थी। परिवारिक जीवन में उनके

व्यक्तित्व की इसी विशेषता ने उन्हें सहिष्णु, उदार, गंभीर, और शान्त बनाया था। जोलाहा-जाति में जो अक्खड़पन और निर्भीकता होती है वह उन्हें उसमें जन्म लेने के कारण उत्तराधिकार के रूप में मिली थी। इसलिए वह अपने जीवन की प्रतिकूल और विरोधी परिस्थितियों में किसी के सामने झुकते नहीं थे। वह सबकी सुनते थे, पर अपने मन की करते थे। अपने चिंतन के क्षेत्र में वह किसी से समझौता करना नहीं चाहते थे। वह चट्टान थे, उस चट्टान की भाँति थे जो वायु और जल के थपेड़े खाकर भी अपने स्थान से हटने का नाम नहीं लेती। परन्तु उनके इस चट्टानी व्यक्तित्व में भी नम्रता थी, कोमलता थी, सहनशीलता और आर्द्रता थी। उनके इन्हीं गुणों ने उनमें साम्य और समन्वय की उद्भावना की थी।

कबीर मस्त जीव थे, फक्कड़ थे। उनके जी में जो आता था उसे वह कहने से कभी नहीं चूकते थे। अपने मन के भावों को दबाना वह अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए अहितकर समझते थे। अपनी इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से न तो किसी का शिष्यत्व स्वीकार किया और न 'कागद की लेखी' से ही कुछ सीखा। परमात्मा के घर से वह जो शरीर, जो मन, जो हृदय, और जो मस्तिष्क लेकर आए थे उस पर उन्होंने कभी भी बाहरी रंग नहीं चढ़ाया। वह जीवन में 'सत्य' के उपासक थे। 'सत्य' ही उनका गुरु और 'सत्य' ही उनका ब्रह्म था। अपने ब्रह्म की खोज के लिए निर्जन वन, अथवा गुफाओं में प्रवेश न करके वह अपने शरीर, मन और मस्तिष्क में ही उसकी खोज करते थे। बाह्याडंबरों में उनका विश्वास नहीं था। रोज़ा, नमाज़, व्रत, उपवास, यज्ञ, पूजा-पाठ आदि से वह सदैव दूर रहते थे। 'सत्य' की खोज में वह इन सबको बाधक समझते थे। 'सत्य' उन्हें अपने जीवन में इतना प्रिय था कि वह उसके लिए अपना सब कुछ न्योछावर कर सकते थे। उनके पास बुद्धि थी, प्रतिभा थी। वह चाहते तो साक्षर होकर बड़े-बड़े पंडितों और मुल्लाओं के छक्के छुड़ा देते थे, परन्तु साक्षर होकर उन्होंने अपनी सहज बुद्धि और उस बुद्धि-द्वारा प्राप्त ज्ञान तथा हृदय की वास्तविक 'पुकार' को शास्त्रीय ग्रन्थों के ज्ञान से प्रभावित नहीं किया। किसी प्रभाव-विशेष के अन्तर्गत वह जीवन और जगत के सत्य को

खोज करना नहीं चाहते थे। वह सत्य को उसके विशुद्ध रूप में देखना चाहते थे और इसी का सबको उपदेश भी देते थे। वह अपने जीवन के साथ कपट, छल अथवा विश्वासघात करना नहीं चाहते थे। उनके व्यक्तित्व की यह विशेषता उस युग में बेजोड़ थी। साधना के क्षेत्र में वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने निरक्षर होकर भी सम्पूर्ण भारत में अपने उपदेशों और अपनी वाणियों से अशान्त जन-समूह को सान्त्वना प्रदान की थी और उनका नेतृत्व किया था। वह आत्म-विश्वासी थे। उनकी फटकार, उनकी आलोचना और उनकी निर्भीकता का एक मात्र कारण था उनका आत्म-विश्वास। उनमें अभिमान नहीं था। वह जो कुछ कहते थे, आत्म-विश्वास के साथ कहते थे। उनकी अक्खड़ता शुष्क और नीरस नहीं, प्रेम-जनित थी। वह हृदय से सब का भला चाहते थे। इसीलिए वह अपनी अक्खड़ता में भी अत्यन्त सरल, विनम्र, सदाचार-प्रिय और कर्तव्य-परायण थे। डा० गोविंद त्रिगुणायत ने अपनी रचना 'कबीर की विचारधारा' में उनके व्यक्तित्व की विशेषता का उल्लेख करते हुए लिखा है—'सत्य के उस अनन्य उपासक में श्रेष्ठ दार्शनिक बुद्धिवादिता और चिन्ता, कट्टर क्रान्तिकारियों की क्रान्ति और कठोरता, अनन्य भक्त की विनम्रता और प्रेमानुभूति, सच्चे आलोचक की स्पष्टवादिता, सच्चे साधु की आचरण-प्रियता, आदर्श पुरुष की कर्तव्य-परायणता, योगियों की अक्खड़ता तथा पक्के फकीर की साधना थी।' राम के भक्तों के तो वह अनन्य दास थे। वह कहते हैं :—

सुपनेहु बरराई के जिह मुख निकसे राम।
ताके पग की पावरी, मेरे तन को चाम॥

× × ×

जिहि घट राम रहे भर पूरि, ताकी मैं चरनन की धूरि॥

कबीर राम के ही नहीं, राम के भक्तों के भी भक्त थे। अपनी इसी भावना के कारण वह राममय हो गए थे। भाग्यवाद में उनका अटल विश्वास था। अपने सम्बन्ध में वह कहते हैं:—

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ।
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचै तित जाउँ॥

ऐसा था कबीर का व्यक्तित्व जिसके निर्माण में उनका अपना ही हाथ था। वह कभी झिझके नहीं, कभी झुके नहीं, कभी अटके नहीं, कभी भटके नहीं। वह अपनी साधना, अपने विश्वासों और अपनी अनुभूतियों में बराबर आगे बढ़ते रहे और एक दिन वह आया जब वह अपने मार्ग की अनेक कठिनाइयों को दूर कर बंधन-मुक्त हो गये। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में सत्य ही लिखा है कि 'हज़ार वर्ष के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक नहीं उत्पन्न हुआ।'

कबीर का महत्त्व

कबीर संधि-काल के विचारक और समीक्षक थे। उनका समय दो परस्पर विरोधी सभ्यताओं एवं संस्कृतियों के संघर्ष का युग था। विजेता के रूप में आए हुए मुसलमान विजित हिन्दुओं के साथ जीवन के किसी भी क्षेत्र में समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे। हिन्दू अपना सब कुछ देकर भी अपनी सभ्यता और संस्कृत की रक्षा करने पर डटे हुए थे। ऐसी दशा में संघर्ष होना स्वभाविक ही था। इस संघर्ष का प्रभाव तत्कालीन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक तथा धार्मिक—पर पड़ रहा था और उनके दुखद परिणाम स्पष्ट होते जा रहे थे। साथ ही यह भी स्पष्ट होता जारहा था कि यदि विजेताओं को विजितों के साथ इसी देश में जमकर रहना है तो उन्हें यहाँ के जीवन-सिद्धान्तों के साथ किसी-न-किसी रूप में समझौता करना ही होगा। समझौते की यह भावना उच्च स्तर के लोगों की अपेक्षा निम्न अथवा अशिक्षित स्तर के लोगों में विशेष रूप से पनप रही थी। वे शान्तिपूर्वक रहकर अपने-अपने धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहते थे। यह थी उस समय की प्रथम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या!

उपर्युक्त समस्या से ही संबंधित तत्कालीन भारतीय समाज की एक दूसरी समस्या भी थी। इस समस्या का सम्बन्ध प्रधानतः हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था से और गौणतः विदेशी जातियों से था। हिन्दू-सामाजिक व्यवस्था के जो दो स्तंभ—वर्ण व्यवस्था और आश्रम-धर्म—माने जाते हैं उनका आदि रूप निस्सन्देह आकर्षक, गतिशील और कल्याणकारी था, परन्तु समय के प्रभाव से

उनमें भी ऐसे दोष आ गए थे जिनके कारण हिन्दू समाज की एकता ही खतरे में पड़ गयी थी। वर्ण-व्यवस्था ऊँच-नीच, छूत-अछूत, ब्राह्मण-अब्राह्मण की अकल्याणकारी भावनाओं से पूरित थी। इसी प्रकार आश्रम-धर्म भी निर्जीव हो रहा था। महात्मा गौतम बुद्ध ने इन दोनों स्तंभों के रूढ़ि-ग्रस्त रूपों को गति देने की चेष्टा की थी, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। क्यों? इसलिए कि वर्ण-व्यवस्था और आश्रम धर्म की जड़ें इतनी दृढ़ और समाज की मानसिक भाव-भूमि में इतनी गहरी धंसी हुई हैं कि उनका उन्मूलन किसी एक के बल-बूते का काम नहीं है। गौतम बुद्ध चले थे वर्ण-व्यवस्था का अन्त करने, परन्तु वह उसका अन्त करने के स्थान पर एक नई जाति को ही जन्म दे गये। यह उनके धर्म के स्वरूप का ही दोष था। बुद्ध धर्म एक प्रकार से भिक्षुओं का धर्म था। भिक्षुओं ने लोक-जीवन में रहकर जाति-भेद की व्यर्थता का लौकिक उदाहरण नहीं प्रस्तुत किया। बौद्ध-श्रमण भी जाति-बन्धन से मुक्त होकर उसकी व्यर्थता पर आघात न कर सके। इस प्रकार के जाति-बन्धन-विरोधी आन्दोलन आगे भी हुए, परन्तु उनके सबके साथ भी यही विडम्बना थी। ऐसी विडम्बना के फलस्वरूप जाति-बन्धन शिथिल होने के स्थान पर और भी रूढ़ि-ग्रस्त होते जा रहे थे। कबीर के समय में तो उनके रूढ़ि-ग्रस्त होने के और भी कारण प्रस्तुत हो गए थे। शक, हूण, ग्रीक, कुशन, सिथियन आदि जो भी विदेशी बर्बर जातियाँ भारत में आयी थीं, उनकी सांस्कृतिक स्थिति नगण्य थी। इसलिए कालान्तर में वे भारतीय जन-समूह का अंग बन गयीं। इस्लामी सभ्यता उच्च कोटि की सभ्यता थी। आर्य-संस्कृति के लिए उसको पचाना सरल काम नहीं था। उसमें दो विशेषताएँ थीं—एक तो जातीय भ्रातृ-भाव और दूसरी सामूहिक साधना। उसकी इन्हीं दोनों विशेषताओं क ओर वर्ण-व्यवस्था से पीड़ित और आश्रम-धर्म से ऊबे हुए लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ और उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। ऐसी दशा में वर्णाश्रम-धर्म के बंधन शिथिल न होकर और भी जकड़ गए। इस्लाम की भी कुछ ऐसी ही दशा हुई। उसने जिस बर्बरता से संसार के अन्य देशों में सफलता प्राप्त की थी वह भारतीय अहिंसात्मक प्रवृत्ति के सामने कुंठित हो गयी। अपने धार्मिक सिद्धान्तों के

प्रचार में उसे अपनी बर्बरता पर ही विश्वास था। भारतीय वातावरण में उसका वह विश्वास जाता रहा और वह भी धीरे-धीरे रूढ़ि-ग्रस्त हो गया—इतना रूढ़िग्रस्त हो गया कि उसमें भी दो दल हो गए। इनमें से एक दल था उन मुसलमानों का जिनमें विशुद्ध तुर्की अथवा अरबी रक्त था और दूसरा दल था उन नए मुसलमानों का जिन्होंने वर्णाश्रम-धर्म की जटिलता से ऊबकर इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लिया था। भारत की तत्कालीन इस्लामी राजनीति में इन दोनों दलों ने पूरा भाग लिया था और सच पूछिए तो यही भारत की इस्लामी सल्तन्तों के विनाश का कारण हुआ। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों अपनी-अपनी सामाजिक व्यवस्थाओं से त्रस्त एवं पीड़ित थे। अतएव आवश्यकता थी ऐसी सामाजिक व्यवस्था की जो एक ओर तो दोनों को रूढ़ियों से मुक्त कर दे और दूसरी ओर उनमें भ्रातृ-भाव का संचार करे।

एक तीसरी समस्या भी थी और वह थी तत्कालीन भारतीय साधना-पद्धतियों को रूढ़ि-मुक्त करना। हम बता चुके हैं कि कबीर के समय में (१) सगुण भक्ति के अन्तर्गत वैष्णव, शैव तथा शाक्त सम्प्रदाय, (२) निर्गुण भक्ति के अन्तर्गत हिन्दू-संत, एकेश्वरवादी मुसलमान तथा प्रेम-मार्गी सूफी (३) बौद्धों का सहजयानी सम्प्रदाय तथा (४) नाथ-पंथी सम्प्रदाय की धूम थी। इस्लाम-धर्म में दो दल थे—एक तो था कट्टर एकेश्वरवादी मुसलमानों का दूसरा था सूफी-मतवालों का। कट्टर एकेश्वरवादी शिया और सुन्नी में विभाजित थे। सूफी-सम्प्रदाय के लोग कट्टर एकेश्वरवादी मुल्लाओं के साथ नहीं थे। उन्हें बल था सात्विक वृत्ति के मुसलमानों का, परन्तु यह लोग भी कई सम्प्रदायों में विभक्त थे। कबीर के समय में इन सम्प्रदायों की संख्या लगभग १४ तक पहुँच चुकी थी जिनमें चिश्ती सम्प्रदाय, सुहरावर्दी सम्प्रदाय, क़ादरी सम्प्रदाय और नक़्शबन्दी सम्प्रदाय प्रमुख थे। साधना के क्षेत्र में इन सभी सम्प्रदायों तथा मतों का अपना-अपना महत्व था, परन्तु उनके रूढ़ि-ग्रस्त हो जाने से उनका प्रवाह रुक-सा गया था और उनमें संकीर्णता आ गयी थी। इसलिए एक मत अथवा सम्प्रदाय के लोग दूसरे मतवालों को घृणा की दृष्टि से देखते थे।

मानव-कल्याण के लिए यह स्थिति अत्यन्त भयावह थी। इसलिए अन्य समस्याओं की भाँति इन समस्या पर भी विचार करना परम आवश्यक था।

उपर्युक्त पंक्तियों में कबीर के समय की जिन आवश्यकताओं एवं समस्याओं की ओर संकेत किया गया है उन पर विचार और विचार के अनुसार सुधार करनेवालों के उस समय दो दल थे—एक दल तो था उन विचारकों का जो समस्त साधना-पद्धतियों की रूढ़ि-ग्रस्त परंपराओं को स्वीकार करते हुए युग के अनुकूल उनकी नवीन व्याख्या करना चाहते थे। वे प्राचीनता के पक्षपाती तो थे, पर नवीनता के विरोधी नहीं थे। दूसरे प्रकार के विचारक क्रान्तिकारी थे। वे समस्त रूढ़ियों को अस्वीकार करके भारतीय समाज को नये दृष्टि-कोण से व्यवस्था करना चाहते थे। यदि व्यास, शंकराचार्य, रामानुज, तुलसीदास प्रथम वर्ग के सुधारक थे तो बुद्ध, अश्व घोष, नागार्जुन, गोरख और कबीर द्वतीय वर्ग के। कबीर प्रचीनतावादी अथवा रूढ़िवादी नहीं थे। वह प्रगतिशील थे। वह समाज तथा धर्म की प्राचीन मान्यताओं पर ही चोट करना चाहते थे। विजेता और विजित, हिन्दू और मुसलमान, शिया और सुन्नी, कट्टर एकश्वरवादी और सूफी मतवादी, योगी और भक्त, वैष्णव और शैव, बौद्ध और जैन, ऊँच और नीच, धनी और निर्धन, छूत और अछूत, ब्रह्म और ईश्वर—तात्पर्य यह कि इस प्रकार के जितने भी भेद-विभेद थे वह उन सबका अन्तकर एक ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे जिसमें सब भाई-भाई की तरह रहें और धर्म के क्षेत्र में अपनी व्यक्तिगत साधना में विश्वास करें। कबीर का यही दृष्टि कोण उनके महत्व का सूचक है।

कबीर अपने समय की उपज थे। उन्होंने स्वयं अपना नेतृत्व और निर्माण किया था। वह द्रष्टा और युगप्रवर्तक थे। उन्होंने व्यक्ति की धार्मिक प्रवृत्तियों का अपनी दृष्टि से संस्कार किया और अपनी पाखंडरहित वाणी से तत्कालीन जनता के जीवन को अनुप्राणित किया। उनके पहले कई धार्मिक नेता हो चुके थे, परन्तु उनमें अप्रिय सत्य कहने का साहस नहीं था। कबीर ने इस अभाव की पूर्ति की। भक्त-कवियों की [illegible]लता और आत्म-भर्त्सना के बीच उन्होंने स्पष्ट रूप से धार्मिक तथा सामाजिक जीवन की पक्षपात रहित

आलोचना की। उन्होंने जहाँ परम्परागत हिन्दू-धर्म के कर्म-काण्ड से निर्भीक स्वर में लोहा लिया, वहाँ भारत में जड़ पकड़नेवाली इस्लाम की नवीन सांप्रदायिक भावना की भी कटु शब्दों में भर्त्सना की। इस प्रकार उन्होंने दोनों धर्मों की अधार्मिकता पर समान रूप से प्रहार किया। उपासना क्षेत्र में वह व्यक्तिगत साधना के पक्षपाती थे। वह चाहते थे साधक को स्वावलम्बी एवं आत्मविश्वासी बनाना। इसलिए समाज के संगठन में वह विशेष सफल नहीं हो सके। फिर भी उनके इस विचार ने शास्त्रीय जटिलताओं को सुलझा कर धर्म को इतना सरल और जीवन-परक बना दिया कि साधारण जनता भी उससे अन्तःप्रेरणाएँ लेने में सफल हो सकी। इतना ही नहीं, जो लोग धर्म का शास्त्रीय ज्ञान न होने के कारण भौतिक ऐश्वर्य से आकर्षित होकर धर्म-परिवर्तन के लिए तैयार हो जाते थे, उन्हें कबीर की पक्षपातरहित वाणी से अपने धर्म पर आरूढ़ रहने का बल मिला। इस प्रकार मुसलमानी कुल में मुसलमानी संस्कृति के बीच पोषित होकर भी उन्होंने ऐसे सार्वजनीन सिद्धान्तों का प्रचार किया जिनसे हिन्दू-धर्म को भी अपने स्थान पर स्थिर रहने की क्षमता एवं दृढ़ता प्राप्त हुई। उन्होंने दोनों धर्मों के बीच समभाव की प्रतिष्ठा की। उनके विचार सब के लिए समान थे। उनके हृदय में हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए समान रूप से स्थान प्राप्त था। उनका धर्म मानव के लिए था, उस मानव के लिए जिसके हृदय में ऊँच-नीच का भेद-भाव न हो, धर्म का पाखण्ड न हो। हिन्दू-धर्म के जाति-बंधन के वह कटु आलोचक थे। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण और शूद्र धनवान और निर्धन—सब समान थे। अपनी इसी सम दृष्टि के कारण वह साधारण हिन्दू-जनता में रामानन्द की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हुए। उपासना के क्षेत्र में रामानन्द अधिक व्यावहारिक न थे, कबीर व्यावहारिक थे। इसलिए कबीर को रामानन्द की अपेक्षा अपने सिद्धान्तों के प्रचार में अधिक सफलता मिली।

तत्कालीन धार्मिक क्षेत्र में का महत्त्व उनके सम-भाव के सिद्धान्त के कारण ही था। उनका यह समभाव उनके मनन और चिन्तन का परिणाम

था। वह स्वतंत्र प्रवृत्ति के साधक थे। वह अपनी आत्मा के सच्चे और निर्भीक अनुचर थे और उसी का चित्र अपनी वाणी-द्वारा उतारा करते थे। उन्हें किसी की चिन्ता नहीं थी। वह अपनी आत्मा की ध्वनि पर मनन करते थे और उसी का प्रचार करते थे। उन्होंने समाज की मनोवृत्तियों के अनुसार अपने धार्मिक सिद्धान्तों का निर्माण न करके अपने स्वनिर्मित-सिद्धान्तों के अनुसार व्यक्ति का निर्माण किया। इसीलिए वह अपने समय के सभी सुधारकों, संतों और धर्म-प्रवर्तकों से पृथक थे। वह क्रान्तिकारी और युग-प्रवर्तक थे। उनके सिद्धान्त उनके अपने सिद्धान्त थे, उनकी विचार-धारा उनकी अपनी विचार-धारा थी। उन्होंने जो कुछ कहा, हृदय की प्रेरणा से ही कहा। इसलिए उनका सन्देश सत्पुरुष का सन्देश था। वह संत पहले और कवि बाद को थे। उनमें धार्मिक दृष्टिकोण प्रधान था, काव्यगत दृष्टिकोण गौण। उन्होंने साहित्य के लिए गीत नहीं गाये, चित्रकारी के उद्देश्य से चित्र नहीं खींचे। उन्होंने जनता के हृदय को परिष्कृत करने, उसे धार्मिक भावना से अनुप्राणित करने और उसे सत्य की ज्योति से जगमगाने के लिए अपनी वाणी को मुखरित किया। वह भाषा के पारखी नहीं थे। छन्दों का उन्हें ज्ञान नहीं था। अलङ्कारों के वह पंडित नहीं थे। वह किसी शास्त्र के ज्ञाता नहीं थे। उन्हें जैसी भाषा मिली, जो छन्द मिले उसी में उन्होंने अपने हृदय के सत्य को चित्रित किया। उनकी अनुभूति और ज्ञान का आधार था—जीवन की खुली पुस्तक। इसीलिए उनके तर्कों में उनका अपनापन था, आत्मविश्वास की अद्भुत आभा थी।

भाषा की दृष्टि से भी कबीर का महत्व कम नहीं है। अपने धार्मिक सिद्धान्तों को जनता तक उन्हीं की भाषा में पहुँचाने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। उनके समय में भाषा बन रही थी। उसका रूप निखर रहा था। उसमें साहित्य नहीं के बराबर था। कबीर ने सबसे पहले उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया। उन्होंने जीवन की जटिल समस्याओं को तत्कालीन जनता की भाषा में सुलझाकर अप्रत्यक्ष रूप से उसका महत्व बढ़ा दिया। फलतः भविष्य में वही भाषा परिष्कृत होकर साहित्य का माध्यम बन गई।

कबीर विचारक संत थे। 'मसि-कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं

हाथ' से यह भी ध्वनित होता है कि उन्होंने अपने विचारों को लिपि-बद्ध भी नहीं किया, केवल मौखिक रूप से ही लोगों को उपदेश

कबीर की रचनाएँ

देते रहे। पुस्तक-ज्ञान को भी उन्होंने अपने जीवन में महत्व नहीं दिया। 'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोई' में जो व्यंग है वह उन्हीं पंडितों के प्रति है जो केवल पुस्तक-ज्ञान के आधार पर अपने पांडित्य का प्रदर्शन करते थे। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने ग्रन्थ-रचना को भी महत्व नहीं दिया। ऐसा लगता है कि साधु-संतों के सत्संग के अवसरों पर आवश्यकतानुसार वह पद-रचना करते रहे होंगे और उसे उनके श्रद्धालु शिष्य लिपि-बद्ध कर लेते रहे होंगे। आज उनकी जो भी रचनाएँ हमें उपलब्ध हैं वे सब उनके शिष्यों-द्वारा ही लिखी गयी हैं। यही कारण है कि उनमें मनमाने परिवर्तन मिलते हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों-द्वारा उनके लिपि-बद्ध होने के कारण उनमें भाषा और भाव की अनेक भूलें तो हैं ही, साथ ही उनमें ऐसे पद भी अधिक हैं जिन पर कबीर के व्यक्तित्व की छाप नहीं है। यही कारण है कि अबतक उनकी रचनाओं का शुद्ध पाठ हमारे सामने नहीं आ पाया है।

कबीर ने अनेक पदों की रचना की है। कबीर-पंथियों का तो यहाँ तक विश्वास है कि 'सद्गुरु की वाणियों का कहीं अन्त नहीं है'। हम ऐसा नहीं समझते। हमारा विश्वास है कि कबीर की रचनाओं की एक सीमा है, उनकी एक वास्तविक संख्या है। इस समय तक उनके नाम से जो ग्रन्थ मिलते हैं और जिनमें उनकी रचनाएँ संगृहीत हैं उनमें 'बीजक', 'आदि ग्रन्थ' तथा 'कबीर ग्रन्थावली' का विशिष्ट स्थान है। 'कबीर-बीजक' कबीर-पंथ के अनुयायियों का धर्म-ग्रन्थ है। इसमें बहुत से ऐसे पद हैं जो न तो 'आदि-ग्रन्थ' में मिलते हैं और न 'कबीर-ग्रन्थावली, में। भाषा एव शैली की दृष्टि से भी यह उक्त दोनों ग्रन्थों से मेल नहीं खाता। इसमें तीन प्रकार के छन्दों की प्रधानता है (१) साखी, (२) सबद और (३) रमैनी। 'साखी' का अर्थ है—साक्ष्य, साक्षात्यकार, ज्ञान, अनुभव, दोहों में सन्तों की अनुभव-वाणी। कबीर ने अपने दोहों साखियों—में साम्प्रदायिक एकता पर बल दिया है, पाखण्डपूर्ण धार्मिक कृत्यों

पर तीव्र व्यंग किया है और अपने सिद्धान्तों की विवेचना की है। इस प्रकार उनके अधिकांश दोहे नीति और उपदेश से भरे हुए हैं। 'रमैनी' से तात्पर्य है कुछ चौपाइयों के पश्चात् एक दोहा। कबीर की रमैनी में दोहे के पूर्व चौपाइयों की कोई निश्चित संख्या नहीं है। कहीं-कहीं चौपाइयों के पश्चात दोहे भी नहीं हैं। 'सबद' में गेय पद हैं। इनमें कबीर की अनुभूतियों का अत्यन्त सुन्दर चित्रण मिलता है। इन छन्दों के अतिरिक्त इसमें ककहरा, वसन्त, चाँचरी, बेली, बिरहुली, हिंडोला आदि छन्द भी मिलते हैं। 'आदि-ग्रन्थ' पंजाबी में हैं। इसमें 'सबदों' का महत्व है। साथ ही इसमें कबीर की कुछ ऐसी रचनाएँ भी संगृहीत हैं जो उनके व्यक्तिगत जीवन पर बहुत स्पष्ट प्रकाश डालती हैं। 'कबीर-ग्रन्थावली' का संपादन डा० श्यामसुन्दर दास ने किया है। इसके प्रणयन में 'श्री कबीर जी की वाणी' तथा 'आदि-ग्रन्थ' से विशेष सहायता ली गयी है।

उपर्युक्त तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त कबीर की रचनाओं के अन्य छोटे-छोटे संग्रह भी मिलते हैं। इन संग्रहों का प्रकाशन एक विशिष्ट दृष्टि कोण से ही किया गया है। कबीर की रचनाओं का जैसा प्रमाणिक संस्करण होना चाहिए, वैसा अभी नहीं हो पाया है। प्रसन्नता की बात है कि इस ओर हिन्दी-प्रेमियों का ध्यान गया है और निकट भविष्य में हमारी यह कठिनाई हल होने की पूरी संभावना है।

कबीर के आध्यात्मिक सिद्धान्त

कबीर को कहाँ से क्या मिला, कितना मिला और उसे उन्होंने किस प्रकार अपनी अनुभूति का विषय बनाकर किस उद्देश्य से और किस रूप में जनता के सामने पुस्तुत किया?—इन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर हम यहाँ विचार नहीं करेंगे। हम केवल यह देखेंगे कि वह अपनी धर्म-साधना में सोलह आना भारतीय धर्म-साधना से प्रभावित थे अथवा नहीं? इस दृष्टि से देखने पर हमें ज्ञात होता है कि यद्यपि उन्हें शरीर मुसलमान-दम्पतियों से प्राप्त हुआ था, तथापि उनका मन, उनका हृदय तथा उनका मस्तिष्क उन हिन्दू-मनीषियों, ऋषियों और चिन्तकों का था जो संसार के माया-मोह से विरक्त होकर अपनी व्यक्तिगत साधना में पारंगत थे। वह एकान्त साधक थे। उनके उपदेशों

को कौन ग्रहण करता है, कौन नहीं, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं थी। वह बहुत ऊँचे उठे हुए साधक थे। वह न तो किसी के गुरु थे, न किसी के शिष्य। स्वामी रामानन्द के उपदेशों से उन्हें जो प्रेरणा मिली थी उसे भी उन्होंने तबतक स्वीकार नहीं किया जबतक उन्होंने उसे अपनी बुद्धि की कसौटी पर भलीभांति कस नहीं लिया। वह जागरूक और बुद्धिवादी थे। किसी भी मत में उनका विश्वास नहीं था। वेद, पुराण, शास्त्र, कुरान आदि धर्म-ग्रंथों और उनके प्रणेताओं के प्रति आदर की दृष्टि से देखते हुए भी उन्होंने उनके विचारों को स्वीकार नहीं किया। वह किसी भी धर्म को असत्य अथवा कपोल-कल्पित नहीं समझते थे। सब धर्म सत्य पर ही आधारित हैं—ऐसा वह मानते थे, पर उस सत्य को उन्होंने यों ही स्वीकार नहीं किया। अंध-विश्वास को वह अपनी साधना के लिए विष समझते थे। उनकी दृष्टि में अज्ञानी और मूर्ख वह था जो बिना सोचे-समझे, बिना विचारे ही दूसरों की अनुभूतियों को सत्य मान लेता था। ऐसे ही व्यक्तियों की उन्होंने आलोचना की। उन्हें किसी से द्वेष नहीं था, पर जो लोग समाज और धर्म की पवित्रता को नष्ट करने में लगे हुए थे उन्हें फटकारने से भी वह नहीं चूके। उन्होंने उनके केवल पाखण्डपूर्ण कार्यों पर गहरी चोट की, उन सिद्धान्तों पर नहीं जिन पर उनका मत आश्रित था। वह अपने लिए जिस विचार स्वातंत्र्य को उपयुक्त और अपेक्षित समझते थे उसके लिए उन्होंने कभी किसी को दोषी नहीं ठहराया। उन्होंने सब को छूट दी, सब को सोचने-समझने का अवसर दिया। इसीलिए किसी मत विशेष का प्रवर्तन भी उन्होंने नहीं किया। उनके सिद्धान्तों को समझने में जो कठिनाई होती है, उसका यह एक प्रमुख कारण है। एक दूसरी कठिनाई भी है और यह कि वह दार्शनिक नहीं थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में कहीं भी दार्शनिक होने का दावा नहीं किया। उनकी विचार-धारा सीधी-सादी थी। अपनी बुद्धिवादिता में वह तर्क की अपेक्षा अनुभूति को ही विशेष महत्त्व देते थे। साधना के प्रश्न को तर्क-द्वारा हल करनेवालों को वह मोटी बुद्धिवाला कहते थे। 'कहत कबीर तरक जो साधै ताकी मति है मोटी'—कहकर उन्होंने तार्किकों का उपहास भी किया था। वह धर्म, राजनीति

और समाज के क्षेत्र में समरसता लाने के पक्षपाती थे। इसके लिए अनुभूति ही अपेक्षित है, तर्क नहीं। तर्क-द्वारा हम शीघ्र किसी निश्चय पर नहीं पहुँचते। शास्त्रीय तर्क के अभाव में इसीलिए कबीर को समझना कठिन हो जाता है।

कबीर के सिद्धान्तों को समझने में और भी कई प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आती हैं। उनकी रचनाओं में हमें इतने विभिन्न मतों की चर्चा मिलती है और उनमें से कई की ओर वह इस प्रकार आकृष्ट जान पड़ते हैं कि उनके आधार पर हम उन्हें कभी वेदान्ती, कभी सूफी, कभी सगुणवादी, कभी निर्गुणवादी, कभी ज्ञानी, कभी भक्त और कभी योगी समझने लगते हैं। हमारी इस प्रकार की भ्रान्तपूर्ण धारणा का कारण यह है कि उनकी सिद्धान्त-सम्बन्धी समस्त बातें हमें विशेष स्थलों पर एकत्र नहीं मिलतीं। इसके अतिरिक्त उनके अनेक पद ऐसे हैं जिनमें अनेक बातों का समावेश पाया जाता है। एक ही विचार-धारा को व्यक्त करनेवाले पदों में सामंजस्य का अभाव है। ऐसा लगता है कि जब जो बात उनकी अनुभूति में आई तब उन्होंने उसे पद्यबद्ध कर दिया। उनकी रचनाओं में काल-क्रम का अभाव भी एक ऐसी बाधा है जिसके कारण उनके आध्यात्मिक विकास की स्पष्ट रेखाएँ सामने नहीं आतीं और हम इधर-उधर टटोलते ही रह जाते हैं। उनकी रचनाओं का कोई प्रमाणित संस्करण भी उपलब्ध नहीं है।

उपर्युक्त कठिनाइयों के होते हुए भी जो आलोचक उनकी रचनाओं के विचार-सागर में गहराई तक उतरे हैं उन्होंने उनके सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त किया है। सुविधा की दृष्टि से हम उनके सिद्धान्तों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं —(१) दार्शनिक सिद्धान्त और (२) सामाजिक सिद्धान्त। निम्न पंक्तियों में हम इन्हीं पर विचार करेंगे।

(१) दार्शनिक सिद्धान्त—कबीर के दार्शनिक सिद्धान्त के अन्तर्गत तीन तत्वों की प्रधानता मिलती है—(१) परमतत्व, (२) जीवतत्व और (३) माया-तत्व। उनके **परमतत्व** पर औपनिषदीय ब्रह्मवाद का प्रभाव अवश्य है, पर उसकी व्याख्या उन्होंने अपनी अनुभूति के आधार पर की है। 'करत विचार मन ही मन उपजी, ना कहीं गया ना आया' तथा 'चेतत चेतत निकसिओ नीरु।

सो जलु निरमल कथत कबीरु' ॥—में उन्होंने अपनी अनुभूति-द्वारा ही उस परमतत्व को प्राप्त करने की ओर संकेत किया है। दार्शनिक दृष्टि से उन्होंने अपने परमतत्व को 'अगम', 'अगोचर', 'अलख', 'निरंजन', 'निराकार', 'निर्गुण' ही माना है। वह कहते हैं :—

बिन मुख खाइ, चरन बिन चालै,
बिन जिह्वा गुण गावै।

× × ×

जस कथिये तस होत नहिं, जस है तैसा सोइ।

× × ×

अलख निरंजन लखै न कोई।
निरभै निराकार है सोई॥

× × ×

सुनि, असथूल, रूप नहिं रेखा।
द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यो नहिं पेखा॥

× × ×

एक कहूँ तो है नहीं, दोय कहूँ तो गारि।
है जैसा वैसा रहे, कहे कबीर विचारि॥

× × ×

पूजा करूँ न नमाज गुजारूँ।
एक निराकार हृदय नमस्कारूँ॥

× × ×

वो है जैसा वो ही जानै।
ओ ही आहि, आहि नहिं आनै॥

× × ×

अविगत, अकल अनूप देख्या, कहतां कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूंगै जानि मिठाई॥

× × ×

अवगति की गति क्या कहूँ, जाकर गाँव न नांव ।
गुन बिहून का पेखिये काकर धरिए नांव ॥

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि कबीर ने अपने परमतत्व के निर्गुण रूप को ही अपना उपास्य माना है। हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, जैन, वेदांती और नाथपंथी मतों के अनुरूप हरि, गोविन्द, केशव, माधव, रहीम, करीम, गोरख आदि उसके अनेक नाम भी उन्होंने गिनाए हैं, पर उनमें से उन्हें उसके किसी नाम से संतोष नहीं होता। ऐसी दशा में अपने सन्तोष के लिए उन्होंने उसके साकार एवं सगुण रूप की भी कल्पना की है और फिर उसे सृष्टिकर्ता के रूप में चित्रित किया है। वह कहते हैं :—

आपन करता भये कलाला। बहुविधि सृष्टि रची दर हाला।
विधना कुंभ किये द्वै भांनां। प्रतिबिंब तामाहिं समाना॥

× × ×

जिनि यह चित्र बनाइया, सो साचा सुतधार।
कहे कबीर ते जन भले जो चित्रवत लेहि विचार।

और इसके साथ ही 'भांनड़, घडण संवारण सोई' कहकर उसे नष्ट करने वाला, बनानेवाला और सुधारनेवाला भी बताते हैं। इस सगुण रूप के साथ ही उन्होंने उसके विराट रूप की भी कल्पना की है। इतना ही नहीं, उन्होंने उसे कहीं माता, कहीं पिता, कहीं पति और कहीं स्वामी के रूप में भी स्मरण किया है ;—

कोटि सूर जाके परगास, कोटि महादेव अरु कविलास।
दुर्गा कोटि जाके मर्दन करै, ब्रह्मा कोटि वेद उच्चरै॥

आदि कह कर उसके व्यापक रूप में, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कुबेर, इन्द्र, दुर्गा, धर्मराज, नदी, पर्वत, कला, विद्या—सब को एक साथ तिरोहित कर दिया है। विष्णु के पौराणिक रुपों की भी उन्होंने कल्पना की है और नरसिंह तथा कृष्णावतार का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने अपनी रचनाओं में अपने परमतत्व का निरूपण विभिन्न ढंगों से किया है। इनसे हमें उनके सत्य-निरूपण-संबधी प्रारंभिक प्रयोगों का ही आभास मिलता है। ऐसा

लगता है कि आरंभ में परमतत्व संबंधी जो बिचार उनकी अनुभूति में आये होगें उनको उन्होंने अपने पदों में निःसंकोच व्यक्त कर दिया होगा, परन्तु कालांतर में जब उन्हें उसका रहस्य खुला होगा तब उन्होंने अपने पूर्व विचारों को 'धोखा' कह कर निम्न पदों की रचना की होगी :—

संतौ, धोखा कासूं कहिए ।
गुण में निरगुण, निरगुण में गुण है, बाट छाड़ि क्यों बहिये ।
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथणाँ जाई ।
नाति स्वरूप, वरण नहिं जाके, घटि-घटि रह्या समाई ।
प्यंड ब्रह्मांड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अन्त न होई ।
प्यंड ब्रह्मांड छाड़ि जे कथिये, कहै कबीर हरि सोई ।

× × ×

खोगा भरभिन भूलहू भोई ।
खालिकु खलक खलक महिं खालिकु पूरि रह्यो सब ठाईं ॥
माटी एक अनेक भांति कर साजी साजन हारे ।
न कछु पोच माटी के भाणे, न कछु पोच कूँभारै ॥
सब महि सचा एको सोई, तिसका किया सब कुछ होई ।

इन पदों से स्पष्ट है कि कबीर उस परमतत्व का अस्तित्व मात्र स्वीकार करते हैं, उसे किसी नाम से अभिहित करना नहीं चाहते। यही है उनके परमतत्व की व्याख्या जिसके अनुसार वह निर्गुण और सगुण—दोनों से परे है। वह न अजर-अमर है, न अलख-निरंजन है, न ब्रह्मांड और पिंड में है। वह है और घट-घट व्यापी होते हुए भी आदि-अन्त हीन है। वह कर्ता भी है, कृति भी। अपने कृति में वह स्वयं ओतप्रोत है। कबीर कहते हैं :—

बाजीगर डंक इजाई । सब खलक तमासे आई ॥
बाजीगर स्वांगु सकेला । अपने रंग रवै अकेला ॥

× × ×

जिनि नटवर नटसारी साजी । जो खेलै सो दीसे बाजी ॥

ऐसा है कबीर का परमतत्व जो अनिर्वचनीय है। शब्दों द्वारा उसका

वर्णन नहीं हो सकता। वह अगम और अज्ञेय है। अपने को वह स्वयं आप ही जानता है और दूसरा उसे केवल 'है' ही कह सकता है। अपनी-अपनी पहुँच और अनुभूति के अनुसार ही साधक को उसका किंचित परिचय प्राप्त होता है। वह परम सत्य है और उसी का प्रसार सारे विश्व में है।

कबीर के दार्शनिक सिद्धांतों में दूसरा प्रमुख तत्व है जीव-तत्व। उन्होंने परमात्मा और जीवात्मा में कोई भेद नहीं माना है। 'खालिकु खलक खलक महि खालिकु परि रह्यो सब ठाईं'—कहकर वह हरि में पिंड और पिंड में ही हरि के अस्तित्व का समर्थन करते हैं। वह यह भी कहते हैं कि इस शरीर के भीतर समझी जानेवाली आत्मा न तो मनुष्य है, न देव है, न योगी है, न यती है, न अवधूत है, न माता है, न पुत्र है, न गृही है, न उदासी है, न राजा है, न रंक है, न ब्राह्मण है, न बढ़ई है, न तपस्वी है, और न शेख ही है। 'कहै कबीर इहि राम को अंसु। जस कागद पर मिटै न मंसु'—से यह स्पष्ट है कि उन्होंने उसे राम का, उस परमतत्व का अंश मात्र माना है जिस का नाश उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार कागज के ऊपर से स्याही का चिह्न नहीं मिटता। उनका यह अंशांशि-भाव उनकी उन उक्तियों से भी स्पष्ट होता है जिनमें उन्होंने दोनों के संबंध को विन्दु और समुद्र के दृष्टान्त से व्यक्त किया है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में जीव-तत्व मूलतः और तत्वतः वही है जो परम तत्व है। जीव-तत्व और परम-तत्व में विभिन्नता का अनुभव करनेवालों को उन्होंने फटकारा है और कहा है :—

दोइ कहै तिनही को दोजख, जिन नहिन पहिचाना।

× × ×

कहै कबीर तुरक दुई साधै; तिनकी मति है मोटी।

कबीर ने शरीरस्थ आत्मा के दो रूप माने हैं जिन्हें हम ज्ञाता या ज्ञेय अथवा दृष्टा या दृष्य के नाम से अभिहित कर सकते हैं। उनकी दृष्टि में आत्मा प्राप्ता भी है और प्राप्तव्य भी। 'आप छिपाने आपै आप'—से उनका यही तात्पर्य है। डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने अपनी रचना 'कबीर की विचार-धारा' में कबीर की 'सुरति' को प्राप्ता आत्मा और निरतिको प्राप्तव्य आत्मा का शुद्ध मुक्त-स्वरूप माना है। जब सुरति अर्थात् प्राप्ता आत्मा का निरति अर्थात् प्राप्तव्य आत्मा

से तादात्म्यत् हो जाता है तब कल्याण और आनन्द की प्राप्ति होती है। कबीर ने कहा भी हैं :—

सुरति समानी निरति में, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यम्भ् दुवार।

यहाँ वह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि एक अद्वैत तत्व भिन्न रूपों में कैसे और क्यों दिखाई पड़ता है? इस प्रश्न को सुलझाने के लिए उन्होंने प्रतिविम्ब-वाद की शरण ली है। 'ज्यों जल में प्रतिविंब त्यों सकल रामहिं जानी जी,' में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार जल में बिम्ब के विवध प्रतिविंब दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार इस ससार में जीवात्मा के विविध रूप मिलते हैं। सक्षेप में यही हैं कबीर के जीवात्मा-संबंधी विचार जिनके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि वह अद्वैतवादी थे।

अब कबीर के माया-तत्व को परखिए। हम अभी बता चुके हैं कि कबीर की दृष्टि में जीवात्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु साधारण लोगों की दृष्टि में ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसका मूल कारण है माया। संसार में जन्म लेना माया में फँसना है और माया ही उस परमतत्व से विलगाव का कारण है। वह कहते हैं:—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ, जल जलहि समाना, यह तथ्य कथ्यो ग्यानी॥

इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा और परमात्मा में अन्तर डालनेवाली है केवल माया। इस माया को कबीर ने 'एक परम सुन्दरी' तथा 'विश्व मोहिनी' के रूप में चित्रित किया है।' इसका स्वभाव है ठगना और फँसाना। 'माया महा ठगिन हम जानी' साथ ही 'कबीर माया मोहनी जैसी मीठी खाँड़' आदि से उनको इसी भावना का आभास मिलता है। माया को उन्होंने नारी के रूप में ही नहीं; बेलि के रूप में भी चित्रित किया है और उसे अनिर्वचनीय माना है। वह कहते हैं :—

जो काँटों तो डह डही, सींची तो कुम्हलाय।
इस गुणवन्ती बेल का कुछ गुण कहा न जाय॥

ऐसी माया को कबीर ने त्रिगुणात्मक माना है और कहा है कि उस परमतत्व ने उसे उत्पन्न करके उसमें अपने आप को छिपा लिया है। निम्न पदों से हमें उनकी इसी प्रकार की विचार-धारा का आभास मिलता है :—

रजगुण, तमगुण, सतगुण कहिये यह सब तेरी माया ॥

× × ×

सत, रज, तम, थैं कीन्हीं माया।
आपन माँझ आप छिपाया ॥

कबीर का यह भी विश्वास है कि माया अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति के कारण परिवर्तनशील है। इसलिए संसार की सभी वस्तुएँ माया-रूपिणी एवं परिवर्तनशीला हैं। 'कबीर माया डोलनी, पवन बहै हिवधार' में कबीर ने माया की गतिशीलता की पवन के प्रवाह से उपमा दी है। 'उपजै विनसै जेती सर्व माया'—से भी उसकी परिवर्तनशीलता का ही आभास मिलता है और यह भी ज्ञात होता है कि उसका जन्म और नाश दोनों होता है। उसी के कारण जीव आवागमन के इन्द्रजाल में फँसता है और यही दुःख का कारण है। अतः माया स्वभावतः दुःख-रूपिणी है। वह व्यभिचारिणी और बन्धन-रूपा भी है। 'मोर-तोर' की वही जननी है। काम, क्रोध, मोह, मद एवं मत्सर उसके पुत्र हैं जो लोगों को सदा विविध प्रकार का नाच नचाया करते हैं। वह इतनी आकर्षणमयी है कि उसे छोड़ने का प्रयत्न करने पर भी वह नहीं छूटती। संसार में आदर, मान, जप-तप, व्रत, उपवास, तीर्थ-यात्रा, रोज़ा, नमाज़ जो कुछ है वह सब माया-प्रसूत ही है। वह जल, थल और आकाश सर्वत्र परिव्याप्त है। संसार का कोना-कोना उससे अभिभूत है। उसका निवास-स्थान है मन। 'इक डायन मेरे मन बसै, नित उठ मेरे जिय को डसै' कहकर कबीर ने माया के प्रभाव को स्पष्ट कर दिया है। 'माया मुई, न मन मुआ, मरि मरि गया सरीर' द्वारा उन्होंने यह भी कह दिया है कि मन की भाँति ही माया भी अविनश्वर है और मन के सारे विकार उसी के संगी-साथी हैं। ऐसी है वह माया और ऐसा है उसका आकर्षक रूप। उसका आकर्षक रूप ही भगवान की भक्ति में बाधक है। वह भक्ति नहीं करने देती। कबीर कहते हैं :—

माया मोह भूले सब लोई। क्यंचित लाभ मानिक दियो खोई॥

× × ×

कबीर माया पापिणीं, हरि सूँ करे हराम।
मुख कड़ियाली कुमति की, कहन न देई राम।

सत्पुरुष से उत्पन्न ऐसी माया संसार की सृजन-शक्ति है जिसके दो रूप हैं—(१) ईश्वरीय अथवा सत्य माया और (२) जीवी अथवा मिथ्या माया। ईश्वरीय माया परमतत्व की प्राप्ति में सहायक होती है। इसके विरुद्ध जीवी माया आत्मा और परमात्मा के मिलने में बाधक है। कबीर ने जीवी माया की ही निन्दा की है और इस संबंध में उन्होंने अनेक पद कहे हैं।

ऊपर की पंक्तियों में हमने कबीर के जिन दार्शनिक सिद्धान्तों की चर्चा की है उनसे उनका अद्वैतवादी होना ही सिद्ध होता है और ऐसा प्रतीत होता है कि वह वेदान्त से अत्यधिक प्रभावित थे। उनका 'परमतत्व' वेदान्त का 'ब्रह्म', उनका 'करता' वेदान्त का 'ईश्वर', उनका 'जीव' वेदान्त का 'जीवात्मा', उनकी 'माया' वेदान्त की त्रिगुणात्मिका 'प्रकृति' और उनके 'भरम करम' का मूल कारण वेदान्त की 'अविद्या' है। 'अविद्या' ही जीवात्मा और परमात्मा के बीच बाधा उपस्थित करती है जिसके कारण जीवात्मा को आवागमन के चक्कर में पड़ना पड़ता है। कबीर अपनी दार्शनिक विचार-धारा में यहीं तक वेदान्ती हैं। वेदान्त की इन बातों को उन्होंने ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं किया, उन पर उन्होंने अपनी अनुभूति की छाप भी लगाई। यही उनकी विशेषता है जिसके कारण वेदान्तियों की श्रेणी में होने पर भी उनका व्यक्तित्व सब से पृथक है।

(२) सामाजिक सिद्धान्त—कबीर की रचनाओं का अध्ययन करने से यह प्रतीत होता है कि उन्होंने दार्शनिक विचारों का ही प्रतिवादन नहीं किया, तत्कालीन समाज से ऊंच-नीच तथा छुआछूत के भेद-भावों को दूर करने के लिए कतिपय सामाजिक सिद्धान्त भी स्थिर किये। उनके समय में भारतीय समाज की जो दुरावस्था थी उसकी ओर हम अन्यत्र इंगित कर चुके हैं। यहाँ हमें इतना और जान लेना चाहिए कि उस समय प्रत्येक हिन्दू और मुसलमान का ध्यान अपने समाज की अपेक्षा अपने धर्म अथवा सम्प्रदाय की ओर ही

अधिक था। एक ओर मुसलमान अपने धर्म-प्रचार में लगे थे, दूसरी [redacted] अपनी धर्म-रक्षा में। मुल्ला, शेख़, सूफ़ी, यती, योगी, सिद्ध, नाथ [redacted] इसी प्रकार के अन्य धर्म-प्रचारक उत्पन्न हो गए थे जो 'मुक्ति' के [redacted] दार बन कर जनता को साधना का मार्ग बताते फिर रहे थे। ऐसी दशा में सामाजिक जीवन के आदर्शों को स्थापित करने के लिए न तो किसी के पास समय था और न किसी को चिन्ता ही थी। कबीर ने इस अभाव पर विचार किया। उन्होंने यह अनुभव किया कि जबतक सामाजिक एकता स्थापित नहीं होगी तबतक धार्मिक एकता का महत्त्व ही स्पष्ट न होगा। ऐसी दशा में वह वर्तमान समाज को अपने अनुभवों से लाभ पहुँचाने की ओर अग्रसर हुए। ऐसा उन्होंने अपनी कर्तव्य-बुद्धि से उत्प्रेरित होकर ही किया, एक सुधारक की दृष्टिकोण से नहीं। उनमें न तो सुधारक बनने की इच्छा थी और न किसी मत-विशेष के प्रचार का आग्रह। तत्कालीन समाज को अंधविश्वासों के इन्द्रजाल से मुक्त करके अपने अनुभवों से उसे लाभ पहुँचाना ही उनका प्रमुख ध्येय था।

कबीर अपने समय के समाज की त्रुटियों और उसकी दुर्बलताओं से भली भाँति परिचित थे। वह समझते थे कि लोगों के सामाजिक पतन का कारण उनमें एक दूसरे के प्रति सद्भावना का अभाव है। इसलिए उन्होंने लोगों को मन की शुद्धि और पवित्र आचरण की शिक्षा दी। उनके सामने 'कर्मवाद' का सिद्धान्त रखकर उन्होंने यह भी बताया कि 'निर्वाण' अथवा 'मुक्ति' की प्राप्ति के लिए किसी का अपकार नहीं करना चाहिए। उन्होंने लोगों को दान, सत्संग, परोपकार और हरि-भजन का भी उपदेश दिया। सामाजिक कटुता को दूर करने के लिए उन्होंने हिन्दुओं में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था की कटु आलोचना की और उनके सामने मानव-प्रेम का आदर्श रखा। उन्होंने सुन्नत और जनेऊ आदि वाह्याडंबरों का भी विरोध किया और हिन्दू तथा मुसलमानों को अपना भेद-भाव भुलाकर एकता के सूत्र में बँध जाने के लिए उत्प्रेरित किया। उन्होंने लोगों को बताया कि वंश और जाति के बंधन कृत्रिम हैं; ईश्वर-कृत नहीं। इसलिए उन्हें सत्य मानकर भेद-भाव उत्पन्न करना सर्वथा अनुचित है।

कबीर ने अपने समय की आर्थिक व्यवस्था की ओर भी ध्यान दिया।

[redacted] कि उनके समय के समाज में जातीय भेद-भाव ही नहीं, आर्थिक दृष्टि [redacted] विषमता है। धनी निर्धनों के प्रति उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं और साधु [redacted] अपने आर्थिक लाभ के लिए जनता को ठगते फिरते हैं। इसलिए उन्होंने [redacted] निर्धन और धनी को भाई-भाई होने की शिक्षा दी वहाँ भिक्षा-वृत्ति पर जीवन निर्वाह करनेवालों के सामने श्रम का महत्त्व स्थापित किया और उन लोगों से [redacted] को सावधान किया जो साधु के रूप में उसे ठगते फिरते थे। उन्होंने [redacted] सामने अपने जीवन का आदर्श रखा और यह समझाया कि ईश्वर ने उ[redacted] जिस स्थिति में रखा है उसी से उन्हें संतोष करना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर के सामाजिक सिद्धान्त मानव की सद्वृत्तियों पर ही आधारित हैं और उन्होंने उन्हीं की प्रतिष्ठा पर बल दिया है। परोपकार, दान, आत्मसंतोष, मन की शुद्धि, पवित्र आचरण, सत्संग, हरि-भजन आदि उनके ऐसे मूल मंत्र थे जिनके आधार पर ही वह अपने समय के सामाजिक जीवन का उद्धार कर सकते थे। उनका समय विभिन्न सम्प्रदायों के संघर्ष का युग था। ऐसे युग में सामाजिक व्यवस्था की कोई ठोस योजना काम नहीं दे सकती थी। इसलिए कबीर ने अपने समय के सामाजिक जीवन के उत्थान के लिए उन्हीं बातों को लोगों के सामने रखा जिनके सम्बन्ध में किसी के दो मत हो ही नहीं सकते थे।

कबीर की भक्ति का स्वरूप

कबीर के जो दार्शनिक सिद्धान्त उपर्युक्त पंक्तियों में व्यक्त किए गए हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह घट-घट-व्यापी परमतत्त्व की अनुभूति में विश्वास करते थे। और 'हरि जैसा है तैसा रहै, तू हरिषि हरिषि गुण गाय' का उपदेश देते थे। यही उनकी भक्ति का सामान्य रूप है। उनके अनुसार भक्ति के बिना जीवन व्यर्थ है। हरि-भक्ति ही जीवन का सार है और वही जीवन का सुख है। उसके अभाव में न तो हृदय का मल शुद्ध होगा और न मुक्ति ही मिलेगी। संसार के साधारण प्राणी ही नहीं, ब्रह्मा, इंद्र, सूर्य, चन्द्र आदि सब मैले हैं, निर्मल हैं केवल राम और राम के भक्त। जो मनुष्य हरि-भजन से

विमुख रहते हैं वे नरक में पड़ते हैं। राम-नाम का आश्रय न लेने के कारण ही यह सम्पूर्ण जगत माया से अंधा बना हुआ है। उसका प्रताप तो ऐसा है कि उससे नीच लोग भी उच्च पदवी प्राप्त कर लेते हैं और पतित-से-पतित मनुष्य भी भव-सागर से पार उतर जाते हैं। उसकी शरण में जाने से कोटि-कोटि कर्म क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। वह कहते हैं :—

भगत बिनु बिरथे जनमु गइओ।
साध-संगति, भगवान-भजन बिनु कहीं न सचु रहिओ॥

× × ×

कबीर हरि की भगति बिन, धिग जीवण संसार।
धूँवां केरा धौलहर, जात न लागै बार॥

× × ×

नरक परहि ते मानई, जे हरि-नाम उदास।

× × ×

सरबु तिआगि भजु केवल रामु।

× × ×

है हरि भजन को प्रवांन।
नीच पावै ऊँच पदवी, बाजते नीसान॥
भजन कौ प्रताप ऐसो तिरे जल पाषान।
अधम भील अजाति गनिका चढ़े जात बिवान॥

× × ×

कबीर सोई कुल भली, जाकुल हरि को दास।

× × ×

जिह नर राम-भगति नहिं साधी। जनमत कस न मुवौ अपराधी॥

× × ×

जो नर भए भगति थैं न्यारे तिनथैं सदा डराते रहिए।

× × ×

भरम का बाँधल ई जगा, कोई न करै विचार।
हरि की भगति जाने बिना, भव बूढ़ि मुआ संसार॥

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर का हरि-भक्ति में अटल विश्वास था। प्रश्न उठता है कि उनकी इस 'हरि भक्ति' का स्वरूप क्या था? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें भारतीय भक्ति-परंपरा पर विचार करना होगा। भारतीय भक्ति-परंपरा के अनुसार भक्ति की दो धाराएँ हैं—एक तो भाव-प्रधान और दूसरी ज्ञान-प्रधान। भाव-प्रधान भक्ति में साधक अपने हृदय की सारी कामनाएँ, अपने मन की समस्त प्रवृत्तियाँ अपने इष्टदेव के चरणों में आर्पित कर देता है और इसी प्रकार के आत्मसमर्पण में वह परमानन्द का अनुभव करता है। ऐसे साधक भावुक भक्तों की कोटि में गिने जाते हैं। इसके विरुद्ध ज्ञान-प्रधान भक्ति में साधक पहले अपने इष्टदेव का ज्ञान प्राप्त करता है, फिर उससे प्रेम करता है और अन्त में उसे अपना सब कुछ अर्पण कर संसार के माया-जाल से मुक्त हो जाता है। इस दृष्टि से मीराँ, सूर, और तुलसी की भक्ति प्रथम प्रकार की और कबीर की भक्ति द्वितीय प्रकार की ठहरती है। कबीर भावुक भक्त नहीं, ज्ञानी भक्त हैं। भावुक भक्त अपने इष्टदेव के दर्शन और उसके सानिध्य को ही सब कुछ मानता है, वह मुक्ति की कामना नहीं करता; ज्ञानी भक्त अपने इष्टदेव का आत्मज्ञान, आत्मविचार और आत्मदृष्टि से परिचय प्राप्त करता है और इस परिचय-द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार से विरक्त होकर जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञानी भक्त की दृष्टि में ज्ञान का महत्त्व भक्ति के ही लिए है। भक्ति-रहित शुष्क ज्ञान का उसके लिए कोई महत्त्व नहीं है। कबीर इसीलिए ज्ञानी भक्त हैं और बार-बार ज्ञान पर बल देते हैं। ज्ञान से भ्रम की टाटी उड़ जाती है, माया-मोह के बंधन टूट जाते हैं, काम-क्रोध आदि दूर हो जाते हैं, असार संसार से वैराग्य हो जाता है, परमात्मा के प्रति प्रेम हो जाता है और फिर मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार ज्ञान भक्ति का सहायक है। भक्ति तभी होती है जब 'कुबुधि का भांडा' फूटता है। कबीर कहते हैं :—

संतौ भाई आई ज्ञान की आंधी।
भ्रम की टाटी सबै उड़ाणी, माया रहै न बांधी॥

हितचित की द्वै थूनी गिरानी, मोह बलींडा टूटा।
त्रिस्ना छांनि परी घर ऊपरि, कुबधि का भांड़ा फूटा॥

× × ×

जब थैं आतम तत बिचारा।
तब निरबैर भया सबहिंन थैं काम, क्रोध गहि डारा।

× × ×

कहै कबीर जे आप विचारै मिट गया आवन-जाना।

× × ×

जाकै आतम दृष्टि है, सांचा है जन सोई।

× × ×

जिहि कुल पुत्र न ज्ञान विचारी।
वाकी विधवा काहे न भई महतारी॥

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि भक्ति के लिए ज्ञान अपेक्षित है। भक्ति-रहित ब्रह्म-ज्ञान को कबीर महत्व नहीं देते। उनके अनुसार केवल ब्रह्म-ज्ञान होने से ही मुक्ति नहीं मिलती। मुक्ति केवल उन्हीं ज्ञानियों की होती है जो राम की भक्ति करते हैं। कबीर कहते हैं :—

पहर्‌यौ काल सकल जग ऊपरि, मांहि लिखे सब ज्ञानी।
कहै कबीर वे भए खालसै, राम भगति जिन जानी॥

कबीर ज्ञानी भक्ति तो हैं ही, साथ योगी भी हैं। उन्होंने स्वयं योग-साधना की थी और उसे अपनी भक्ति साधना में महत्व पूर्ण स्थान दिया था। प्रश्न उठता है कि क्या भक्ति के लिए ज्ञान की भाँति योग भी अपेक्षित है? यदि है, तो कबीर ने उसे किस रूप में अपनाया है? दोनों प्रश्न जटिल हैं और कबीर की भक्ति का स्वरूप समझने के लिए आवश्यक हैं। पहले प्रश्न का उत्तर भारतीय साधना-मार्ग से संबंध रखता है और दूसरा कबीर की भक्ति के स्वरूप से। हम पहले बता चुके हैं कि भारतीय साधना-मार्ग में योग का भक्ति से कोई विरोध नहीं है। योग का अर्थ है—चित्त वृत्तियों का निरोध। मुक्ति के लिए चत्त वृत्तियों का निरोध आवश्यक है। मन बड़ा चंचल है और प्रत्येक क्षण

सांसारिक विषयों में लिप्त रहता है। उसकी गति का जानना अत्यन्त कठिन है। कबीर कहते हैं :—

सनक सनंदन जैदेव नांमां,
भगति करी मन उनहुँ न जाना ॥
सिव; विरंचि, नारद-मुनि ग्यानी,
मन की गति उनहूँ नहीं जानी ॥
ध्रू, प्रहिलाद, बभीषन सेषा,
तन भीतरि मन उनहूँ न देषा ॥

ऐसा है यह मन ! भक्तों ने भक्ति तो की, पर मन की गति का भेद उन्होंने भी नहीं जान पाया। इसलिए वे अपनी भक्ति में पूर्णतया सफल नहीं हो सके। भक्ति की पूर्णता के लिए मन की गति का ज्ञान और उस ज्ञान-द्वारा चित्त-वृत्तियों का निरोध आवश्यक है। चित्त-वृत्तियों का निरोध होता है मन को अन्तर्मुखी बनाने से। योग का यही लक्ष्य है। यह मन को वाह्य विषयों से रोककर एकाग्र और अंतर्लीन करने की क्रियात्मक साधना है। इस साधन का साधक योगी होता है और उसे शीघ्र ही भक्ति योग सिद्ध हो जाता है। भक्ति-योग-द्वारा योगी सहज ही ब्रह्म का साक्षात्कार करके परम सुख का अनुभव करता है। कबीर के भक्ति-योग का यही आदर्श था। वह योग-द्वारा अपने इष्ट देव का साक्षात्कार अपने तन में ही करना चाहते थे। उनका कहना था :—

सो साईं तन में बसै, भ्रम्यौ न जाणैं तास।
कस्तूरी के मृग ज्यूँ, फिरि फिरि सूँघै घास ॥
× × ×
रे मन बैठि कितै जिन जासी; हिरदै सरोवर है अविनासी,
× × ×
काया मधे कोटि तीरथ, काया मधे कासी।
काया मधे कवलापति, काया मधे बैकुंठ-बासी

उपर्युक्त उदाहरणों में कबीर के ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, आत्मविचार अथवा आत्मदृष्टि का प्रधान रूप से समर्थन मिलता है। आत्मज्ञान-द्वारा उन्हें इस रहस्य का अनुभव हो गया है कि उनके 'राम' का निवास उनकी काया में ही

है। उनकी काया में ही कोटि तीर्थ हैं और उन्हीं में उनके 'राम' परिव्याप्त हैं। प्रश्न यह है कि उनका साक्षात्कार हो कैसे ? कैसे उन्हें खोजा जाय ! ज्ञान-द्वारा राम का परिचय प्राप्त कर लेने पर भी जबतक उनका साक्षात्कार न हो तब तक भक्ति ही कैसी ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कबीर कहते हैं :—

लागै प्यास नीर सो पीवै, बिन लागै नहिं पीवै।
खोजै तत मिलै अविनासी, बिन खोजे नहि जीवै॥
कहै कबीर कठिन यह करणीं जैस्र पंडे-धारा।
उलटी चाल मिलै पारब्रह्म कौ, सो सतगुरु हमारा॥

यहाँ कबीर ने अपनी जिस 'उल्टी चाल' की ओर संकेत किया है वही उनकी योग-साधना है। इसके अनुसार चित्त-वृत्तियों की स्वाभाविक बहिर्मुखी गति को अन्तर्मुखी करना पड़ता है। यह क्रिया तलवार की धार पर चलने के समान ही कठिन है। इस पर वही चलने का साहस कर सकते हैं जिन्हें अपने 'राम' से मिलने की लगन है। इस प्रकार कबीर का योग केवल मन को निर्विषय बनाने तक ही सीमित है। वह कहते हैं :—

जे मन नहिं तजै विकारा, ते क्यों तिरिये भौ पारा।
जब मन छांड़ै कुटिलाई; तब आई मिले रामराई॥

× × ×

चित चंचल निहचल कीजै, तब राम रसाइन पीजै।
जब राम रसाइन पीया, तब काल मिथ्या, जन जीया॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर आत्मज्ञान-द्वारा अपने इष्टदेव 'राम' का परिचय प्राप्त करते हैं, परिचय प्राप्त करने पर उनसे प्रेम करते हैं और अन्त में अपनी काया में योग-द्वारा उनका साक्षात्कार करके अपनी भक्ति को पुष्ट करते हैं। यही है उनकी भक्ति का वास्तविक स्वरूप जो उनकी व्यक्तिगत साधना का चरम लक्ष्य है। इस लक्ष्य की सिद्धि में वह सकाम नहीं, निष्काम हैं। इसलिए उनकी भक्ति निष्काम भक्ति है। निष्काम भक्त अपनी साधना का कोई फल नहीं चाहता। 'उसका अलभ्य और अनिवार्य फल उसे स्वतः प्राप्त होता है।' कबीर इसी प्रकार के भक्त हैं। वह अपने प्रभु के अतिरिक्त

कुछ भी नहीं चाहते। उन्हें न तो दोज़ख (नरक) के भय की चिन्ता है, न बहिश्त के सुख का लोभ। दोज़ख के भय से वह भयभीत होकर अपने 'राम' का भजन नहीं करते। इसी प्रकार स्वर्ग के सुखों का आनन्द लूटने के लिए भी वह 'हरिषि हरिषि गुन गाय' का उपदेश नहीं देते। ऐसा करना ही तो सकाम भक्ति है। कबीर कहते हैं :—

जब लगि भगति सकामना, तब लगि निर्फल सेव।

स्पष्ट है कि कबीर अपनी भक्ति भावना में उच्चकोटि के निष्काम भक्त हैं। अपने राम के साक्षात्कार-द्वारा वह बिना इच्छा किए हुए ही जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। यही वास्तविक मुक्ति है। निष्काम भक्त को मुक्ति के लिए कामना नहीं करनी पड़ती। वह तो उसे स्वतः प्राप्त है। इस दृष्टि से कबीर अपनी भक्ति में अनन्य हैं। कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति—भारतीय साधना के इन चारों अंगों का सुन्दर समन्वय जैसा काशी के उस अपढ़ जुलाहे ने अपनी भक्ति में किया है वैसा न तो उनके पूर्व किसी ने किया और न आज ही हमें कोई मिलता है।

कबीर की सहज समाधि

यहाँ तक तो हुआ कबीर की भक्ति के स्वरूप के संबंध में। एक बात रह जाती है और वह है कबीर की 'सहज समाधि'। जहाँ तक उनकी रचनाओं का उनकी 'सहज समाधि' से संबंध है वहाँ तक यह कहा जा सकता है कि उन्होंने मन को स्थायी रूप से एकाग्र करने तथा उसे पूर्णतः निर्विषय बनाने के लिए ही हमारे सामने इसका आदर्श प्रस्तुत किया है। 'सहज' का अर्थ है स्वाभाविक और 'समाधि' का अर्थ है मन की वह स्थिति जिसमें ध्येय और ध्याता का भेद मिट जाता है और दोनों एकाकार हो जाते हैं। इस प्रकार 'सहज समाधि' का अर्थ हुआ—मन की वह स्थिति जिसमें वह अपने भाव के अनुरूप अपने ध्येय से, अपने इष्ट से, अभेद संबंध स्थापित कर लेता है। स्पष्ट है कि कबीर इस दिशा में भी अपनी अनुभूति से ही उत्प्रेरित हैं। वह मन को स्वाभाविक ढंग से ही निर्विषय बनाने के पक्ष में है, कृत्रिम उपायों से नहीं। पतंजलि का योग-दर्शन उनकी सहज साधना का विषय नहीं है। अपनी

साधना के विभिन्न क्षेत्रों में जिस प्रकार वह सब कुछ जानते हुए भी उससे भिन्न हैं, उसी प्रकार अपनी 'सहज समाधि' का आदर्श प्रस्तुत करते समय वह हठयोग, लययोग अथवा मंत्रयोग की क्रियाओं को जानते हुए भी किसी से प्रभावित नहीं हैं। मन का अहंभाव दूर करने, उसे निर्विषय बनाने और फिर उसे अपने ध्येय के साथ मिलाकर उसकी सत्ता को नष्ट करने के लिए उन्होंने जिस स्वाभाविक साधन का उपयोग किया है वही उनकी 'सहज समाधि' है। वह कहते हैं:—

सहज-सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिन्ह सहजैं हरिजी मिलैं, सहज कहीजै सोइ॥

इस साखी में कबीर ने अपनी सहज-साधना का लक्ष्य स्पष्ट करने के साथ-साथ यह भी प्रकारान्तर से बता दिया है कि लोग 'सहज सहज' कहते तो हैं, पर 'सहज साधना' की वास्तविकता से किसी का परिचय नहीं है। कबीर के इस कथन का रहस्य जानने के लिए हमें कबीर के समय के उन साधकों पर विचार करना होगा जो योगिक क्रियाओं-द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध करते थे। उस समय प्रधानतः दो प्रकार के योगी थे—(१) नाथ-पंथी और (२) बौद्ध-सिद्ध। कबीर अपनी 'सहज-साधना' में इन दोनों प्रकार के योगियों से भिन्न थे। नाथ-पंथियों की साधना काया-साधना थी। वे काया को कष्ट देकर ही अपने कर्तव्य एवं साधना की इतिश्री समझ लेते थे। हठयोग की क्लिष्ठ साधना ही उनका अंतिम पुरुषार्थ था। उन्होंने आसन, प्राणायाम और मुद्रा को साधन के रूप में ग्रहण न करके साध्य के रूप में ग्रहणकर लिया था। वे जीवन और मृत्यु की सत्यता में विश्वास करके उससे मुक्ति पाने के लिए शरीर को ही साधनात्मक प्रक्रियाओं-द्वारा दिव्य बनाने के प्रयत्न में रहते थे। उनके इस प्रयत्न का लक्ष्य होता था 'महेश्वरत्व की प्राप्ति'। महेश्वरत्व की अनुभूति उन्हें शून्यावस्था में होती थी। इस लक्ष्य से भटकनेवाले योगी लौकिक अथवा अलौकिक सिद्धियों को प्राप्त करने में लगे रहते थे। ऐसे योगी भोली-भाली जनता को अपने चमत्कारों के प्रदर्शन से प्रभावित करके उन्हें ठग लेते थे। इन नाथ-पंथी योगियों की साधना से भिन्न बौद्ध-सिद्धों की साधना थी! बौद्ध-

सिद्धों की साधना गुह्यात्मक साधना कहलाती थी। उनका अन्तिम लक्ष्य था 'महासुख की प्राप्ति'। वे जीवन और मरण के बन्धन से छुटकारा प्राप्त करने के लिए महासुख की अनुभूति आवश्यक समझते थे। 'महात्मा गौतम बुद्ध ने संसार को दुखमय मान-कर 'दुःख-निरोध' को सब का अन्तिम ध्येय निश्चित किया था। इसके लिए उन्होंने सभी संस्कारों का शमन, चित्त वृत्तियों का त्याग एवं तृष्णा का लय परमावश्यक बताया था। इस 'निरोध' या 'विरागमयी पूर्णशान्ति की अवस्था' को ही उन्होंने निर्वाण का नाम दिया था। इसी 'निर्वाण की अवस्था' को कालान्तर में 'शून्य' की संज्ञा मिली। शून्यावस्था में आत्मा को किसी प्रकार की अनुभूति नहीं होती—न सुख की, न दुःख की, न राग की, न द्वेष की। यही बौद्ध-सिद्धों का 'महासुख' है। यह ऐसी अवस्था है जो अनिर्वचनीय है। बौद्ध-सिद्धों की भाँति नाथ-पंथी शून्यावस्था में विश्वास करते थे, पर अन्तर यह था कि जहाँ नाथ-पंथी काया-साधना-द्वारा अपनी शून्यावस्था में महेश्वरत्व की अनुभूति करते हैं वहाँ बौद्ध-सिद्ध गुह्यात्मक साधना-द्वारा अपनी शून्यावस्था में महासुख की। शून्यावस्था में आत्मोपलब्धि दोनों को होती है, पर एक आत्मोपलब्धि के पश्चात् महेश्वरत्व प्राप्त करता है और दूसरा आत्मोपलब्धि की अवस्था को खोकर एक अनिर्वचनीय महासुख की अनुभूति करता है। इसी को नाथ-पंथी और बौद्ध-सिद्ध 'सहज साधना' कहते हैं। कबीर की 'सहज साधना' अथवा सहजानुभूति इन दोनों से सर्वथा भिन्न है। वह न तो काया-साधना में विश्वास करते हैं और न गुह्यात्मक साधना में। उनका लक्ष्य न तो 'महेश्वरत्व' प्राप्त करना है और न 'महासुख'। उनकी सहज साधना का अन्तिम लक्ष्य है—'राम के प्रेम का रस चखना'। वह कहते हैं :—

डंडा, मुंडा, खिंथा, अधारी, भ्रम कै भाइ भवै भेष धारी।
आसन पवन दूरि करि बौरे, छाँड़ि कपट नित हरिभज बौरे॥

× × ×

मीठा सो जो सहजैं पावा। अति कलेस थैं करू कहावा॥

स्पष्ट है कि कबीर योग के क्लिष्ट और अस्वाभाविक उपायों को भक्ति के लिए न तो उत्तम समझते हैं, न आवश्यक। उनके अनुसार वह साधन भी

उत्तम नहीं है जो क्लेशपूर्ण है। वह जिस योग को उत्तम समझते हैं वह 'सहज योग' हैं। उनके 'सहज योग' में वेद-पुराण पढ़ने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि पढ़ने-गुनने से जो ज्ञान हो सकता है वह सहज-साधना-द्वारा अनायास ही प्राप्त हो जाता है। इसलिए वह कहते हैं :—

का पढ़िये, का गुनिए। का वेद-पुरान सुनिए॥
पढ़े गुने मति होई। मैं सहजैं पावा सोई॥

× × ×

सहजैं राम नाम ल्यौ लाई। रामनाम कह भगति दिढ़ाई॥
राम नाम जाका मन माना। तिन तौ निज सरूप पहिचाना॥

इस प्रकार कबीर का 'सहज योग' केवल राम-नाम की साधना है। युक्ति पूर्वक राम-नाम में लौ लगाने से भक्ति दृढ़ हो जाती है और सहज में ही सहज समाधि लगकर आत्म स्वरूप का परिचय हो जाता है। राम-नाम योग सहज इसलिए है कि सांसारिक कर्मों को करते हुए भी उसकी साधना की जा सकती है। राम-नाम में प्रीति दृढ़ हो जाने पर सांसारिक विषयों का आकर्षण स्वतः मंद पड़ जाता है। कबीर कहते हैं :—

सहजैं सहजैं सब गए, सुत, बित, कामिनी, काम।
एकमेक ह्वै मिलि रह्यौ दास कबीरा राम॥

इस प्रकार मन की चंचलता दूर करने और उसे निर्विषय बनाने के लिए राम-भक्ति और राम का साक्षात्कार प्राप्त करने के लिए भी राम-भक्ति; आदि में भी रामभक्ति और अन्त में भी राम-भक्ति; साधन भी राम-भक्ति और साध्य भी राम-भक्ति—यही कबीर की 'सहज साधना' है :—

चित चंचल निहचल कीजै। तब राम रसायन पीजै॥
तब राम रसाइन पीया। तब काल मिट्या, जन जीया॥

× × ×

मन करि निहचल, आसन निहचल, रसनां रस उपजाई॥
चित करि बटुआ, तुचा मेखली, मसमैं भसम चढ़ाई॥

तजि पाखंड, पांच करि निग्रह, खोजि परमपद राई ॥

कबीर की दृष्टि में योग का लक्ष्य है—भक्ति की सिद्ध। भक्ति की सिद्धि में 'भेख' की आवश्यकता नहीं। इसलिए योगियों के खपरा, सिंगी, भस्म, झोली, चटुआ, मुद्रा, कंथा, अधारी आदि वाह्याडम्बर में उनका विश्वास नहीं है। मन को शुद्ध रखना, मन को माया-मोह से विरक्त करना, मनको निर्विषय बनाना, इसके लिए आवश्यक है राम से सहज प्रेम। राम से सहज प्रेम हुआ नहीं कि समस्त इन्द्रियाँ बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी हो जाती हैं। उनके अन्तर्मुखी होने पर काया के भीतर व्याप्त अपने राम से उनका साक्षात्कार करा देना ही 'सहज साधना' है। यही वास्तविक योग है। कबीर इसी योग को मानते थे। उनके 'राम' का उनके साथ जन्म से ही नाता था। इस बात के स्थायित्व में बाधक हो रही थी मन की चंचलता। मन का 'राम' के साथ स्थायी नाता जोड़ने के लिए कबीर ने उसकी गति और उसके स्वभाव में परिवर्तन करके उसे बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बनाया। इसके लिए उन्हें वाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं पड़ी। वाह्य साधनों-द्वारा दबाव डालकर वश में किया हुआ मन उन परिस्थितयों के पुनः आने पर प्रलोभनों में पड़ सकता था। कबीर इस रहस्य को समझते थे। इसलिए उन्होंने सहज अर्थात् जन्म से प्राप्त साधन से ही उसका परिष्कार किया। वह किसी बताए हुए मार्ग पर नहीं चले। वह अपनी 'सहज समाधि' के स्वयं आविष्कारक थे। उनके पदों में आए हुए दृढ़ योग, लय योग अथवा मंत्र योग के पारिभाषिक शब्दों के आधार पर उन्हें तथाकथित योगियों की साधना से सहमत मानना उनके साथ अन्याय करना होगा। जो सहज सात्विक जीवन में विश्वास करता था, जिसका समस्त जीवन-दर्शन अनुभूतियों के बल पर खड़ा था और जो केवल आँखों की देखी पर ही आस्था रखता था, वह कभी भी 'तान्त्रिक वैष्णव भक्त' नहीं हो सकता। वह तो सच्चे भक्त थे। यह उनकी अनुभूतियों की ही देन थी। इसका प्रभाव केवल मानसिक परिवर्तन तक ही सीमित नहीं था। इसके द्वारा कबीर ने सदा के लिए अपनी प्रकृति को ही परिवर्तित कर दिया था। उन्होंने इसके द्वारा अपने मन को ऐसी स्थिति में टिका दिया था जहाँ वह विचरण करने के लिए स्वतन्त्र था। उसे और किसी प्रकार

की रोक-टोक नहीं थी। उसे सारा संसार ही राममय नहीं, वह स्वयं भी राममय दिखाई पड़ते थे। कबीर कहते हैं :—

हम सब माहिं सकल हम नाहीं। हम थैं और दूसरा नाहीं॥

× × ×

तीन लोक में हमरा पसारा। आपुहि सब खेल हमारा॥
षट दरसन कहियत हम भेषा। हमही अतीत रूप नहि भेषा॥
हम ही आप कबीर कहावा। हम ही अपने आप लखावा॥

× × ×

अब मन रामहि ह्वै रहा, सीस नवाऊँ काहि।

यह है जीवन-मुक्ति की अवस्था जिसे कबीर ने अपनी 'सहज साधना' से प्राप्त किया था।

यहाँ तक हमने कबीर को एक विचारक के रूप में देखा है। इस से भिन्न उनका एक रूप और है और वह है उनका कवि-रूप। हम अन्यत्र बता चुके हैं कि कबीर कवि नहीं थे। इसलिए हम उनकी रचनाओं को शास्त्रीय दृष्टि से 'काव्य' नहीं कह सकते। उनके समय में भावों और विचारों को अभिव्यक्ति के लिए जो साधन उपलब्ध थे उन्हीं का प्रयोग उन्होंने एक कवि के नाते नहीं, एक साधक के नाते किया। उनकी रचनाओं में उनका साधक-रूप ही सर्वत्र दीख पड़ता है। एक साधक की भाँति उन्होंने काव्य के विभिन्न प्रकारों में से केवल उन्हीं का प्रयोग किया है जो परंपरागत उन्हें प्राप्त थे। प्रबंध-काव्य लिखने के लिए जैसा काव्य-कौशल अपेक्षित है वैसा उनमें नहीं था। वह निरक्षर थे। साहित्य के शास्त्रीय विधि-विधानों से उनका विशेष परिचय नहीं था। उनके पास साहित्यिक भाषा भी नहीं थी। छंद, रस और अलंकारों का भी उन्हें ज्ञान नहीं था। अपने समय के कवियों के संपर्क में भी वह नहीं आए थे। ऐसी दशा में वह काव्य के उन्हीं रूपों को अपना सकते थे जिनका परिचय उन्हें साधु-संतों के सत्संग से प्राप्त हुआ था।

कबीर की काव्य-साधना

उनके समय में मुक्तक, गीत सूक्ति और नीति-वाक्यों का अधिक प्रचार

था। विभिन्न संप्रदाओं के साधु-संत अपनी अभिव्यक्ति के लिए काव्य के इन्हीं रूपों का प्रयोग करते थे। कबीर ने भी इन्हीं रूपों को अपनाया। उनमें अद्भुत प्रतिभा थी। इसलिए उन्होंने कवि-कर्म न जानते हुए भी विशेष सफलता प्राप्त की।

कबीर ने अपनी रचनाओं के उपर्युक्त काव्य-रूपों में मुख्यतः तीन विषयों को स्थान दिया—(१) प्रताड़न, (२) उपदेश और (३) स्वानुभूति-चित्रण। इन तीनों में उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली। उन्होंने जीवन में जहाँ भी पाखंड देखा उसको उन्होंने तीव्र आलोचना की। जाति-पाँति का कृत्रिम भेद, ऊँच-नीच का भाव, रूढ़िग्रस्त परम्पराओं का अंधानुकरण, अंध विश्वास, मूर्ति-पूजन, तिलक छाप, रोज़ा-नमाज़, मन्दिर-मसजिद, सुन्नत-जनेऊ विभिन्न सम्प्रदायों के पाखंड—इनमें से जिस ओर भी उनकी दृष्टि गयी उसकी उन्होंने अपने काव्य के मध्यम से जो खोलकर भर्त्सना की। उनकी इस प्रकार की भर्त्सना में चिढ़ या खीज नहीं, परोक्ष रूप से उपदेश का भाव रहता था। आत्मा और परमात्मा के मिलने में वह किसी प्रकार का भेद-भाव, किसी प्रकार का पाखंड स्वीकार नहीं करते थे। जीवन में समरस लाने के लिए ही उन्होंने कहा था :—

कहैं कबीर एक राम जपु रे, हिन्दू-तुरक न कोई।

कबीर अंधविश्वास और पाखंड के घोर विरोधी थे। इसलिए उन्होंने कहा :—

दुनिया कैसी बावरी, पाथर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजै, जेहिका पीसा खाय॥

× × ×

राम पियारा छाँड़िकै, करै आन का जाप।
वेस्या केरा पूत ज्यूँ, कहै कौन सूँ बाप॥

× × ×

मूंड मुड़ा माये जो सिधि होई, स्वर्गहि भेड़ न पहुँची कोई।

× × ×

कनवा फराय जोगी जटवा बढौलैं, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होय गैलैं बकरा।
जंगल जाय जोगी धुनियाँ रमौलैं, काम जराय जोगी बन गैलैं हिजरा॥

× × ×

बनहि बसे का कीजिये, जे मन नहिं तजै बिकार।

× × ×

दिन भर रोजा रहत हैं, रात हनत हैं गाय।
यह तो खून, वह बंदगी, कैसे खुसी खुदाय॥
बकरी पाती खाति है, ताकी काढ़ी खाल।
जे नर बकरी खात हैं, तिनका कौन हवाल॥

कबीर की उपदेशात्मक रचनाओं में जीवन की दार्शनिकता भरी हुई है। उनमें गुरु, शुद्ध आचरण, प्रेम और सत्संग का महत्त्व तो है ही, साथ ही ब्रह्म के सर्वव्यापी रूप, माया-मोह की निन्दा और संसार की क्षणभंगुरता, विनय, आत्मसमर्पण आदि की भी प्रतिष्ठा की गयी है। उनके ऐसे पदों से जीवन में उनकी गहरी पैठ का आभास मिलता है। वह कहते हैं :—

माला फेरत जुग गया, मिटा न मन का फेर।
करका मनका छाँड़ि के, मन का मनका फेर॥

× × ×

तनकौं जोगी सब करै, मन का बिरला कोई।
सब सिधि सहजै पाइए, जे मन जोगी होई॥

× × ×

केसौं कहा बिगाड़िया, जे बूड़ै सौ बार।
मन को काहे न मूड़िए, जा मैं विषय-विकार॥

× × ×

काम, क्रोध, तृष्णा तजै, ताहि मिलै भगवान।

× × ×

कबिरा संगति साधु की, हरै और की व्याधि।
संगत बुरी असाधु की, आठो पहर उपाधि॥

× × ×

पानी केरा बुदबुदा, अस मानस की जात।
देखत ही छिप जायगी, ज्यों तारा परभात॥

× × ×

तीर तुपक से जो लड़ै, सो तो सूर न होय।
माया तजि भक्ती करै, सूर कहावै सोय॥

× × ×

ज्यों तिलमाहीं तेल है, ज्यों चकमक में आगि।
तेरा साईं तुझमें, जागि सकै तो जागि॥

कबीर की उपदेशात्मक प्रवृत्ति की विविधता उपर्युक्त रचनाओं से भली भाँति स्पष्ट हो जाती है। इनमें उनके मनन और चिन्तन का ही प्रतिफलन हुआ है। इसलिए इनके द्वारा उनकी कवित्व शक्ति का परिचय पूर्णरूप से नहीं मिलता। हमें मिलता है उनका कवित्व उन पदों में जिन्हें वह अपनी मौज में, अपनी मस्ती में, अपनी तन्मयता में रचा करते थे। उस समय उनके मुख से जो कुछ भी निकलता था वह सनातन कवित्व का शृंगार होता था। उनकी अनुभूतिपूर्ण रचनाओं में आत्मा की परमात्मा से मिलने की जो तड़प है, ससीम की असीम में आत्मसात होने को जो ललक और लालसा है, जीव और परमतत्व के मिलन की जो रागात्मक स्थिति है वही उनके कवित्व की परख की कसौटी है और इस कसौटी पर वह सोलह आना खरे उतरते हैं। प्रेम और विरह के चित्रण में वह हिन्दी के कवियों में अग्रगण्य हैं। जब वह कहते हैं कि —

नैनों की करि कोठरी, पुतरी-पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारिकै, पिया को लिया रिझाय॥

× × ×

विरह कमंडल कर लिये, वैरागी दो नैन।
मांगैं दरस-मधूकरी, छके रहैं दिन रैन॥

तब कौन यह कह सकता है कि वह कवि नहीं थे। कवि-कर्म से वह परिचित न रहे हों, परन्तु मानव की रागात्मक प्रवृत्तियों पर दाम्पत्य और वात्सल्य भावों का जो प्रभाव पड़ता है उससे वह भली भाँति परिचित थे। इसलिए उन्होंने इन्हीं के अन्तर्गत अपनी अनुभूतियों का बड़ी सफलतापूर्वक चित्रण किया।

काव्य-तत्त्व की दृष्टि से भी कबीर की रचनाएँ उच्चकोटि की प्रतीत होती हैं। उनके आध्यात्मिक सिद्धान्तों के विवेचन, पाखंडों के उद्घाटन और उपदेशों की सृष्टि में जहाँ उनके बुद्धि का चमत्कार दीख पड़ता है वहाँ उनकी अनुभूतिपरक रचनाओं में उनकी भावना और कल्पना का सुन्दर समन्वय भी मिलता है। इस प्रकार उनकी कविता में काव्य के तीनों तत्त्वों—बुद्धि-तत्त्व, भावना-तत्त्व और कल्पना-तत्त्व—की कहीं एक साथ और कहीं पृथक-पृथक प्रतिष्ठा दृष्टि-गोचर होती है। उनके काव्य का बुद्धि-तत्त्व तर्क-प्रधान नहीं है, इसलिए वह शुष्क और नीरस भी नहीं है। उसमें स्वाभाविकता और बोधगम्यता है। उसके अन्तर्गत आत्मा और परमात्मा के सूक्ष्म संबंधों का स्पष्टीकरण एवं विश्लेषण सरल-से-सरल भाषा में किया गया है। बुद्धि-तत्त्व की भाँति ही कबीर के काव्य का भावना-तत्त्व भी सप्राण और सजीव है। उसके अन्तर्गत दाम्पत्य-प्रेम का जैसा सुन्दर चित्रण कबीर की रचनाओं में मिलता है वैसा अन्य किसी ज्ञानश्रयी कवि की वाणी में नहीं मिलता। आध्यात्मिक विचारों की पृष्ठभूमि पर भावना के मोहक और सुन्दर चित्र उतारने में वह अद्वितीय हैं। इस कार्य की सफलता में उनकी कल्पना-शक्ति ने भी उनकी सहायता की है। उनमें बुद्धि और भावना का ही प्राबल्य नहीं, कल्पना का भी प्राबल्य था। उनका विषय ही ऐसा था जो कल्पना के आधार पर ही व्यक्त किया जा सकता था। इसलिए उन्होंने माया, ब्रह्म तथा अन्य विविध आध्यात्मिक तत्त्वों के चित्रण में इसी का सहारा लिया। वह अपनी इस चेष्टा में बहुत ऊँचे नहीं उड़े। वह अपने विषय की मर्यादा को समझते थे। इसलिए इस दिशा में उन्होने बड़े संयम से काम लिया। निम्न पद में उनकी कल्पना शक्ति का चमत्कार देखिए :—

पिया ऊँची रे अटरिया तोरी देखन चली।
ऊँची अटरिया जरद किनरिया, लागी नाम की डोरी।

चाँद सुरज सम दियना बरतु हैं, ता बिच भूली डगरिया।
आठ मरातिब, दस दरवाजा, नौ में लगी किवरिया।
खिरकी बैठ गोरी चितवन लागी, उपराँ झाँप झोपरिया।

उपर्युक्त पद से कबीर की कल्पना शक्ति का अनुमान लगाना कठिन नहीं है। कबीर मस्त मौला था। अपनी मस्ती के क्षणों में वह जो कुछ कहते थे उसमें उनके मस्तिष्क और हृदय का पूरा वेग रहता था। वह अपने भावों और विचारों में इतने तन्मय रहते थे कि उन्हें अपनी स्थिति तक का भान नहीं होता था। ऐसी स्थिति में वह जो कुछ कहते थे वह काव्य के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता था।

कबीर के काव्य का कला पक्ष भी सुदृढ़ और सशक्त हैं। उनके काव्य में छन्दों की विविधता के साथ-साथ विभिन्न प्रकार के अलंकारों और रसों की सुन्दर योजना भी मिलती है। उन्होंने अपनी कविता में छन्दों का प्रयोग किसी छन्द-शास्त्र से चुन कर नहीं, अपितु साधु-संतों के बीच प्रचलित छन्दों के आधार पर किया है। उनकी छन्द-योजना में सबद, साखी, रमैनी, चौपाई और दोहा के अतिरिक्त ककहरा, हिंडोला, वसन्त, चौतीसी, विप्रमतीसी, बेलि, चाचर आदि भी छन्द मिलते हैं। इन छन्दों का प्रयोग उन्होंने स्वतंत्रतापूर्वक किया है। वह पिंगल के शास्त्रीय नियमों से आवद्ध नहीं थे। अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में मात्राओं की जोड़-गाँठ की अपेक्षा वह स्वर और लय की ही अधिक चिन्ता करते थे। उनके लिए प्रधानता थी विचारों और भावों की, छन्द-वद्धता की नहीं। भावातिरेक होने पर उन्हें यह भी ध्यान नहीं रहता था कि वह क्या और किस छन्द में बोल रहे हैं। ऐसी दशा में शास्त्रीय दृष्टि से उनकी छन्द-योजना में दोष मिलना स्वाभाविक ही है और इसके लिए हम उन्हें दोषी नहीं ठहरा सकते। पिंगल के शास्त्रीय नियमों से अपने आप को बाँधने की उनकी प्रवृत्ति ही नहीं थी।

पिंगल-शास्त्र की भाँति ही वह अलंकार शास्त्र के मर्मज्ञ नहीं थे। विभिन्न प्रकार के अलंकारों के नामों और उनकी शास्त्रीय परिभाषा से उनका परिचय नहीं था। फिर भी उनकी रचनाओं में हमें कई प्रकार के अलंकार मिलते हैं। इन

अलंकारों का प्रयोग उनकी रचनाओं में अनायास ही हुआ है। रूपक, उपमा, अनुप्रास, यमक, विभावना, काव्यलिंग, उत्प्रेक्षा, अन्योक्ति, लोकोक्ति, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास आदि के स्वाभाविक प्रयोग से उनके काव्य में विशेष चमत्कार दिखाई पड़ता है। रूपक और उपमा के प्रयोग में तो उन्हें विशेष सफलता मिली है। उनकी अधिकांश रचनाएँ इन्हीं दोनों अलंकारों से भरी हुई हैं।

रस काव्य की आत्मा है और इस दृष्टि से भी कबीर का काव्य अत्यन्त सफल है। उनकी अधिकांश रचनाओं में शृङ्गार रस को प्रधानता है। इसके अन्तर्गत उन्होंने जीवात्मा तथा परमात्मा के संबंध को दाम्पत्य-रूप में चित्रित किया है और उसके संयोग एवं वियोग दोनों पक्षों पर सुन्दर रचनाएँ की हैं। ऐसी रचनाओं का उल्लेख हम रहस्यवाद के अन्तर्गत कर चुके हैं। फिर भी यहाँ एक-दो उदाहरण दे देना अनुचित न होगा :—

कै बिरहनि कूँ मीच दै, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणा, मो पै सहा न जाय॥

× × ×

आइ न सकौं तुझ पै, सकौं न तुझ बुलाइ।
जियरा यौं ही लेहुगे, बिरह तपाइ-तपाइ॥

× × ×

जो सुख चहै तो लज्जा त्यागे,
पिय से हिलमिल लागे।
घूंघट खोल अंग भर भेंटे,
नैन आरती साजे॥

शृंगार रस के अतिरिक्त कबीर ने वात्सल्य, अद्‌भुत और शान्त रसों की भी योजना की है। उनकी उलटवासियों में अद्‌भुत रस की प्रधानता मिलती है। भक्ति भावना से प्रेरित होकर उन्होंने जो उक्तियाँ कहीं हैं उनमें शान्त रस पाया जाता है। उनकी कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं जिनमें रस का प्रवाह नहीं है। ऐसी रचनाओं के अन्तर्गत हम उनके आध्यात्मिक, उपदेशात्मक और योग-संबंधी कविताओं को ले सकते हैं। इनमें उनका बुद्धिवादी दृष्टिकोण अत्यन्त गंभीर

और गहन हो गया है। इसलिए इनके पठन-पाठन में किसी भी रस का उद्रेक नहीं होता।

आचार्य मम्मट के अनुसार काव्य में (१) प्रसाद, (२) माधुर्य और (३) ओज—इन तीन गुणों की प्रतिष्ठा होती है। कबीर की रचनाओं में केवल दो, प्रसाद और माधुर्य, का समावेश हुआ है। प्रसाद गुण उनकी उन रचनाओं में मिलता है जिसमें उन्होंने अपनी उपदेशात्मक एवं सुधारात्मक प्रवृत्तियों का परिचय दिया है। इस प्रकार की रचनाओं में उनकी भाषा सरल, स्पष्ट और साफ-सुथरी है। माधुर्य गुण उनकी रहस्यवादी रचनाओं में मिलता है। ऐसी रचनाएँ शृंगारात्मक होने के कारण माधुर्य गुण के लिए अत्यन्त उपयुक्त होती हैं। कबीर ने अपने काव्य में इन दोनों की प्रतिष्ठा अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर उच्च कोटि के संत ही नहीं, मर्मज्ञ कलाकार और कवि भी थे। उनकी रचनाओं में काव्य के उन सभी अंगों का समावेश हुआ था जो शास्त्रीय दृष्टि से मान्य थे। विचार, कल्पना और अनुभूति का सुन्दर समन्वय उनके काव्य की एक विशेषता थी। छन्द, रस और अलंकार का पंडित न होने पर भी उनकी रचनाओं को देखकर कोई यह कहने का दावा नहीं कर सकता कि वह इन तीनों में पारंगत नहीं थे। उनकी प्रतीक-योजना, उनकी उलटवाँसियाँ, उनकी समासोक्तियाँ, उनकी अन्योक्तियाँ—सब उनके कवि-कर्म की ही दाद देती हैं। यह सत्य है कि वह साहित्य को उन्नत रूप देने अथवा उत्कृष्ट काव्य-रचना करने की भावना से उत्प्रेरित होकर इस क्षेत्र में नहीं आये, और यह भी सत्य है कि उन्होंने तत्कालीन जनता में एकता, और समानता स्थापित करने तथा अन्ध-विश्वासों को दूर कर उसे परमार्थ की ओर उन्मुख करने की इच्छा से ही अपनी बानी कही, फिर भी अनायास रूप से उन्होंने अपनी कवित्व-शक्ति का जो परिचय हमें दिया है वह हिन्दी-काव्य के इतिहास में अद्वितीय है।

अबतक हमने कबीर के संबंध में जो कुछ कहा है उससे हमें ज्ञात

होता है कि उन्होंने अपने आध्यात्मिक सत्य का निरूपण या तो अपनी बुद्धि के अनुसार किया है या अपनी भक्ति-भावना के अनुकूल। बुद्धि के सहारे आध्यात्मिक सत्य का निरूपण करना ज्ञान और भावना के सहारे ब्रह्म के आधिदैविक स्वरूप की उपासना करना भक्ति है। रहस्यवाद इन दोनों से भिन्न होता है।

कबीर का रहस्यवाद

वह जीवात्मा और परमात्मा के तादात्म्य को प्रकाशित करने की एक काव्य-शैली है। डा० गोविन्द त्रिगुणायत का कहना है कि जब साधक भावना के सहारे आध्यात्मिक सत्य की रहस्यमयी अनुभूतियों को वाणी-द्वारा शब्दमय चित्रों में सजाकर रखने लगता है तब साहित्य में रहस्यवाद की सृष्टि होती है। इस प्रकार संक्षेप में रहस्यवाद जीवात्मा और परमात्मा के तादात्म्य-संबंधी अभिव्यक्ति की एक शैली है। इस शैली का कवि अद्वैतवादी होता है, पर वह अपनी अनुभूतियों के प्रकाशन में अद्वैतवादी नहीं रह पाता। अद्वैतवादी की मनोवृत्ति 'उसे अनेक से एक की ओर ले जाकर किसी शून्यवत् अज्ञेय वस्तु तक पहुँचा देती है और वहाँ वह आवाक् रह जाता है।' रहस्यवादी की दशा इससे भिन्न होती है। 'वह उस वस्तु तक अपनी अन्तर्दृष्टि के सहारे प्रवेश करता है और उसके साथ तन्मयता के आनन्द में मग्न भी हो जाता है।' पं० परशुराम चतुर्वेदी ने रहस्यवादी की स्थिति को स्पष्ट करते हुए यह भी लिखा है कि उसकी दृष्टि में अद्वैतवाद अथवा द्वैतवाद का प्रश्न कोई महत्त्व नहीं रखता। अद्वैतवादी संस्कार का कवि जहाँ जीवात्मा और परमात्मा के तादात्म्य में एक द्वैतवादी के समान चेष्टा करता है वहाँ द्वैतवादी भावनाओं द्वारा प्रभावित कवि भी अद्वैतवादी-सा बन जाता है और इस बात में उन्हें किसी प्रकार का वैषम्य नहीं जान पड़ता। इस प्रकार रहस्यवाद के अन्तर्गत अद्वैत और द्वैत—दोनों प्रकार की भावनाओं का चित्रण हो सकता है। कबीर की रहस्य भावना अद्वैतवाद के अन्तर्गत ही आती है। वह अपने दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार शंकराद्वैत मतवादी थे। निरपेक्ष परमतत्त्व के अस्तित्व में उनका विश्वास था और वह जगत को अनित्य, मिथ्या और भ्रमात्मक मानते थे। 'वह है जैसा वो ही जानैं, ओही आहि आहि नहिं आनै'—कहकर उन्होंने उसके अस्तित्व मात्र को स्वीकार किया था। परन्तु इतने

से ही उन्हें संतोष नहीं हुआ। उन्होंने उसे 'अगम', 'अगोचर', 'सर्वव्यापी' भी कहा और उसके साथ पत्नी, बालक और दास के रूप में भी अपना संबंध स्थापित किया। 'हरि मेरा पीव, मैं हरि की बहुरिया'—में उन्होंने यदि उसे पति और स्वयं को पत्नी के रूप में चित्रित किया तो 'हरि जननी मैं बालक तेरा'—में उन्होंने उसे माता और स्वयं को बालक रूप में मानकर उसके साथ अपना संबंध स्थापित किया। ऐसे ही संबंधो के चित्रण में हमें उनकी रहस्य भावना का परिचय मिलता है।

रहस्य भावना की जागृति के लिए तीन आस्थाएँ मानी गई हैं। उनमें से एक है आस्तिकता। आस्तिकता रहस्यवाद की सर्वप्रथम आस्था है। आस्तिकता का अर्थ है—परमतत्त्व अथवा ब्रह्म के आस्तित्व में विश्वास। जो आस्तिक नहीं है, वह कभी रहस्यवादी हो ही नहीं सकता। रहस्यवादी होने के लिए आस्तिक होना आवश्यक है। परन्तु उसके लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है। रहस्यवाद की दूसरी आस्था है—प्रेम और भावना। आस्तिक होने के साथ-साथ जब साधक परमात्मा के प्रति प्रेम-भावना से परिपूर्ण होकर उसमें तन्मय हो जाता है तब रहस्यवाद का जन्म होता है। प्रश्न उठता है कि परमात्मा के प्रति साधक की प्रेम-भावना जागरित हो कैसे? इस प्रश्न का उत्तर ही रहस्यवाद की तीसरी आस्था है और वह है—गुरु का अस्तित्व। ब्रह्म में आस्था होने और आत्मा में ब्रह्म से मिलने की भावना तथा प्रेम का उदय होने के पश्चात् भी दोनों का मिलन तब तक संभव नहीं होता जबतक कि दोनों को मिलानेवाला कोई गुरु न हो। गुरु-द्वारा ही हृदय में ब्रह्म के प्रेम का अंकुर फूटता और पल्लवित होता है। इस प्रकार कबीर में रहस्यवाद की तीनों आस्थाएँ पायी जाती हैं। वह आस्तिक तो हैं ही, साथ ही अपने परमतत्त्व के प्रति प्रेम-भावना से परिपूर्ण हैं और गुरु के महत्त्व को स्वीकार करते हैं।

कबीर ने गुरु का बखान मुक्त कंठ से किया है। वास्तव में गुरु-द्वारा ही जीवात्मा और परमात्मा में तादात्म्य स्थापित होता है। कबीर कहते हैं:—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूँ पाँव।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोबिन्द दियो बताय॥

स्पष्ट है कि गुरु का महत्त्व गोविन्द से भी अधिक है। गुरु ही साधक को ब्रह्म का ज्ञान कराता है और जीवात्मा और परमात्मा के संबंध को स्थापित करता है। वह उसके हृदय में ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता है कि परमात्मा के वियोग में उसकी जीवात्मा छटपटाने लगती है। वह अपने परमतत्त्व से मिलने के लिए, अपनी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए बेचैन हो जाती है। वह हर प्रकार के कष्ट झेलती है और उसके अभाव में तड़पती रहती है। यह है रहस्यवाद की प्रथम अवस्था। उसकी दूसरी अवस्था तब आती है जब साधक की जीवात्मा को अपने परमतत्त्व का परिचय मिल जाता है और उसका दर्शन उसे हो जाता है। उस समय साधक के हृदय में एक विचित्र प्रकार का अनिर्वचनीय आह्लाद उत्पन्न होता है। यह उसे वस्तुतः आनन्द-विभोर कर देता है। ऐसी दशा में पहुँचने पर साधक की अनुभूतियाँ अस्पष्ट और जटिल हो जाती हैं। इसी दशा को सूफी 'फ़ना' और अद्वैतवादी दार्शनिक 'आत्म ज्ञान' कहते हैं। इसके पश्चात् एक तीसरी अवस्था उस समय आती है जब साधक की जीवात्मा का अभीष्ट सिद्ध हो जाता है और वह अपने परमतत्त्व से मिलकर एक हो जाती है। इस दशा में पहुँचकर साधक के जीवन में पूरा काया पलट हो जाता है। अद्वैतवादी इसी दशा को 'जीवन मुक्त' कहते हैं। यहीं परमानन्द की अवस्था और मोक्ष भी है। कबीर की रहस्यवादी भावना में उक्त तीनों अवस्थाओं का समावेश हुआ है। इस दिशा में वह सूफ़ियों से आगे हैं। सूफ़ी रहस्यवादी अपनी अनुभूतियों के प्रकाशन में केवल पहली अर्थात् वियोगवस्था की दशा तक सीमित रहते हैं। वे इसका वर्णन बड़े विस्तार के साथ करते हैं और प्रेमियों की कठिनाइयों और उनकी वियोगावस्था का अत्यन्त हृदय द्रावक-चित्र उतारते हैं, पर शेष दो स्थितियों तक वह नहीं पहुँच पाते। कबीर ने रहस्यवाद की तीनों स्थितियों का चित्रण समान रूप से किया है। देखिए :—

रहस्यवाद की पहली अवस्था :—

(१) सत गुरु मार्‌या बाणभरि धरिकरि सूधी मूठि।
अंग उघारै लागिया, गई दवा सूँ फूटि॥

(२) सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपकार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार॥
(३) साईं बिन दरद करेजे होय।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, कासे कहूँ दुख होय।
आधी रतियां पिछले पहरवां साईं बिन तरस रही सोय।
कहत कबीर सुनो भाई प्यारे, साईं मिले सुख होय॥
(४) बालहा आव हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे।
सब कोई कहै तुम्हारी नारी मोको यहै अंदेह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै, तब लग कैसा नेह रे।

रहस्यवाद की दूसरी अवस्था :—

(१) कबीर पेख्या एक अंग महिमा कही न जाय।
तेजपुंज पारस मणी, नैनू रहा समाय।
(२) अब तोहिं जान न दैहूँ प्रान पियारे।
ज्यों भावै त्यों होहु हमारे।
(३) बहुत दिनन थैं प्रीतम पाए।
भाग बड़े, घर बैठे आए॥
मंदिर मांहि भया उजियारा।
ले सूती अपना पीव प्यारा॥
कहैं कबीर, मैं कछु न कीन्हा।
सखी सुहाग राम मोंहि दीन्हा॥
(४) दुलहिन गावहु मंगलचार,
हम घर आए राजाराम भरतार।
तन रत करि, मैं मन रत करि हूँ, पंचतत बराती।
रामदेव मोरे पाहुन आए, मैं जोबन मैं माती॥

रहस्यवाद की तीसरी अवस्था:—

(१) लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥

(२) कहे कबीर सो पाया। प्रभु भेंटत आप गँवाया॥
(३) जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
अब मन रामहिं ह्वै रहा, सीस नवाऊँ काहि॥
(४) हार मरिहैं तो हमहूँ मरिहैं।
हरि न मरे, हम काहे को मरिहैं॥

यहाँ कबीर की रचनाओं से उनकी रहस्यभावना-संबंधी जो उद्धरण दिए गए हैं उनसे स्पष्ट है कि उनकी रहस्यानुभूति की प्रथम दशा के जनक हैं—उनके गुरु। उन्होंने उन्हें एक विचित्र बाण द्वारा घायल कर दिया और उसकी चोट ऐसे मर्मस्थल पर लगी कि उसके कारण उन्हें गूढ़ तत्त्व सूझ गया। उन्हीं ने उस 'अनत' को देखने के लिए उनके अनंत नेत्र खोले और उसका अनुभव प्राप्त कराने के लिए उन्होंने उन्हें बेचैन कर दिया। उनकी नींद हराम हो गयी और रात-दिन वह अपने साईं से मिलने के लिए तड़पने लगे। इस प्रकार विरह-द्वारा तपाये जाने पर जब उन्हें उसे परम ज्योति का साक्षात्कार हुआ तब उनका मन उसमें रम गया। यही कबीर के रहस्यवाद की दूसरी अवस्था है। इस अवस्था में आने पर उन्हें उनका 'प्रीतम' घर बैठे मिल गया और वह आनन्द विभोर हो गये। अब हटना कैसा! इतने दिनों तक विरह की अग्नि में तपकर जिसे उन्होंने प्राप्त किया, उसका त्याग कैसे करें! इसलिए वह तन्मय हो गये उसके ध्यान में और रंग गये उसी के रँग में। इस अवस्था में पहुँचने पर उनके परमतत्त्व में और उनमें कोई भेद नहीं रह गया। यही है रहस्यवाद की तीसरी अवस्था जिसमें जीवात्मा और परमतत्त्व में इस प्रकार मिलन हो जाता है कि एक के अस्तित्त्व से दूसरे का अस्तित्व सार्थक होता है। ऐसे ही सम्मिलन से दोनों का अन्तर नष्ट हो जाता है। आत्मा अपनी आकांक्षा पूर्ण कर लेती है और फिर आत्मा और परमात्मा की सत्ता एक हो जाती है। 'सीस नवाऊँ काहि'—कह कर कबीर ने अपनी इसी अवस्था की ओर संकेत किया है।

रहस्यवाद की कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने अपनी रचना 'कबीर का रहस्यवाद' में रहस्यवाद की चार विशेषताओं का उल्लेख किया है। उनके अनुसार रहस्यवाद की पहली विशेषता है—उसमें प्रेम की धारा

का अवाध रूप से प्रवाहित होना। यहाँ प्रेम से तात्पर्य हृदय की साधारण स्थिति से नहीं, वरन् उसकी उस विशेष स्थिति से है जिसमें वह अपने अन्तर्जगत के सभी अंगों का मेल बहिर्जगत से करने में सफल होता है। प्रेम का संबंध ज्ञान से नहीं है। वह हृदय की वस्तु है, मस्तिष्क की नहीं। इसलिए प्रेम का स्थान ज्ञान से बहुत ऊँचा है। ज्ञान से परमतत्त्व का परिचय मिलता है, पर प्रेम से वह वश में किया जा सकता है। रहस्यवाद में परमतत्त्व के प्रति अनन्य प्रेम होना ही उसकी सफलता का द्योतक है। कबीर में वही प्रेम है और वह उससे मतवाले हैं। वह कहते हैं:—

नैना नीझर लाइया, रहट बसै निस जाम।
पपिहा ज्यों पिव पिव करौं, कब रे मिलहुगे राम॥

इसी प्रेम के सहारे रहस्यवादी अपने परमतत्त्व की अभिव्यक्ति पाते हैं। कबीर अपने परमतत्त्व के अनन्य प्रेमी हैं। दिन-रात वह उसके वियोग में तड़पते रहते हैं और उससे मिलने के लिए उत्कठित रहते हैं।

रहस्यवाद की दूसरी विशेषता है—उसमें आध्यात्मिक तत्त्व का होना। इसका संबध अन्तर्जगत से होता है। अन्तर्जगत में बराबर नई-नई भावनाओं का उदय होता रहता है। इन भावनाओं का आध्यात्मिक आधार होना आवश्यक है। यहाँ आध्यात्मिक आधार से हमारा तात्पर्य जीवात्मा और परमात्मा के चिर-संबंध से है। इस संबध का पूर्ण निर्वाह तभी होता है जब रहस्यवादी सांसारिक प्रलोभनों से ऊँचा उठकर एक ऐसे वातावरण में पहुँच जाता है जहाँ उसके हृदय की समस्त चंचल प्रवृतियाँ शान्त होकर एकरस हो जाती हैं। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर रहस्यवादी को अपने परमतत्त्व का साक्षात्कार होता है और वह उस अलौकिक आनन्द में मस्त होकर उसके साथ अभिन्न सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। कबीर ऐसी स्थिति में पहुँचकर कहते हैं :—

राम कबीर एक भए हैं, को उन सकै पछानि।

रहस्यवाद की तीसरी विशेषता है—उसका सदैव जागृत रहना। उसमें सदैव ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि रहस्यवादी को अपने परमतत्त्व की दिव्य और अलौकिक झाँकी दीखती रहे। यदि ऐसा न हुआ तो रहस्यवाद की शक्ति में

शिथिलता आ जाती है और रहस्यवादी अपने ऊँचे स्थान से गिरकर भ्रम में पड़ जाता है। रहस्यवाद को सशक्त और चेतना-संपन्न बनाने के लिए रहस्यवादी में अपने परमतत्त्व के प्रति तड़प और लगन होना अपेक्षित है। कबीर में यह तड़प और यह लगन पर्याप्त मात्रा में है। 'तड़पै बिन बालम मोर जिया'—में उन्होंने अपने हृदय की जिस स्थिति का चित्रण किया है उससे ज्ञात होता है कि वह सदैव अपने परमतत्त्व से समरस होने के लिए एक क्षण भी विश्राम नहीं करते। सूफ़ियों की भाँति 'हाल' आने पर ही उन्हें परमतत्त्व के वियोग की पीड़ा का अनुभव नहीं होता, वह अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते उसके ध्यान में मस्त रहते हैं।

रहस्यवाद की चौथी विशेषता यह है कि अनंत की ओर केवल भावना की ही प्रगति न हो, वरन् संपूर्ण हृदय की आकांक्षा उस ओर आकृष्ट हो जाय। संपूर्ण हृदय की आकांक्षा को उस ओर आकृष्ट करने में मन की चंचलता बाधक होती है। मन की चंचलता का मुख्य कारण है—माया। जीवात्मा और परमात्मा के मिलन में माया ही रोड़े अटकाती है। इसलिए कबीर ने उसकी भरपूर निन्दा की है और अपने सहज योग-साधन-द्वारा उस पर विजय प्राप्त की है। अपने संपूर्ण हृदय की आकांक्षाओं को अ ने परमतत्त्व के प्रति आकृष्ट करते हुए वह कहते हैं: —

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागें है मोर॥

कबीर के इसी प्रकार के समर्पण में उनकी रहस्य भावना का विकास हुआ है। उनका रहस्यवाद भारतीय परंपरा का रहस्यवाद है और उसमें सभी प्रकार के रहस्यवादों का समन्वय हुआ है। वह एकान्तिक नहीं, प्रवृत्यात्मक है। किसी मत विशेष के अन्तर्गत कबीर ने अपने रहस्यवाद की सृष्टि नहीं की। उनकी दृष्टि उदार थी। गृहस्थ होते हुए भी वह उच्च कोटि के विचारक और संत थे। वह सब के हृदय में उसी परमतत्त्व का निवास पाते थे। जाति-पाँति का बन्धन उन्हें स्वीकार नहीं था। विभिन्न सम्प्रदायों की रूढ़िग्रस्त विचार-धारा के पचड़े में वह नहीं पड़े। उन्होंने अपना कोई मत भी नहीं चलाया। वह मानव-

प्रेम से अभिभूत थे। इसलिए उन्होंने अपने रहस्यवाद में उसी प्रेम के आध्यात्मिक रूप का चित्रण किया। यही उनका प्रेम-मूलक रहस्यवाद है जिससे उनका अधिकांश काव्य ओतप्रोत है।

अपने यौगिक रहस्यवाद में कबीर ने पतंजलि-योग के अष्टांग के अनुरूप ही अपनी अनुभूतियों का चित्रण किया है। हम अन्यत्र बता चुके हैं कि रहस्य भावना के अन्तर्गत द्वैत अथवा अद्वैत का भेद नहीं रहता। द्वैतवादी भी उसी प्रकार रहस्यवादी हो सकता है जिस प्रकार अद्वैतवादी होता है। कबीर ने अद्वैतवादी होते हुए भी द्वैतवादी भावनाओं को रहस्यवाद के रूप में प्रस्तुत किया है, परन्तु उनकी परिणति अद्वैतवाद में हो जाती है। इसे हम उनकी एकात्मानुभूति कह सकते हैं। इन विशेषताओं के अतिरिक्त उनके रहस्यवाद में विकासवाद को भी स्थान मिला है। वह कहते हैं:—

देखो कर्म कबीर का, पूरब जनम का लेख।
जाका महल न मुखिल है, सो दोसत किया अलेख।

कबीर के उपर्युक्त जन्मांतरवाद के साथ विकास की भावना सम्बद्ध है। इसके उदाहरण कबीर स्वयं हैं। इस प्रकार रहस्यवाद की पूरी अभिव्यक्ति हम उनकी रचनाओं में पाते हैं। उनका रहस्यवाद अत्यन्त गहन, और जटिल है। कहीं-कहीं तो उनकी कोई बात समझ में नहीं आती। इसका प्रमुख कारण है— उनकी अनुभूतियों की गहनता और जटिलता। रहस्यवादियों की अनुभूतियाँ रहस्यमयी होती हैं। उनका अनुभूत भाव-सौंदर्य इतना ज्वाजल्यमान और उनका भावोन्माद इतना तीव्र होता है कि बोलचाल के साधारण शब्दों में वे उसे व्यक्त नहीं कर पाते। वे प्रायः रूपक का आश्रय लेते हैं और प्रतीकों के सहारे अपने भावों को व्यक्त करते हैं। रूपक और प्रतीक-योजना की उद्भावना उनके हृदय में आप-ही आप बिना किसी प्रयत्न के सहज ही हो जाती है। अपने भावोन्माद में वे यह नहीं जान पाते कि वे क्या और कैसे कह रहे हैं। इसीलिए उनके भावों का रहस्य समझना प्रायः कठिन हो जाता है। कबीर भी इसीलिए जटिल हैं। उनका एक रूपक देखिए:—

हरि मोर रहटा, मैं रतन पिंडरिया।
हरि का नाम ले कतति बहुरिया॥
छौ मास ताग, बरस दिन कुकरी।
लोग कहै भलु कातत बपुरी॥
कहहि कबीर सूत भल काता।
चरखा न होय मुक्ति कर दाता॥

यहाँ कबीर ने अपनी रहस्य-भावना को चरखे के रूपक में व्यक्त किया है। चरखे का रूपक उनके लिए स्वाभाविक ही हैं। वह जुलाहे थे, ताना-बाना और चरखा सदैव उनकी आँखों के सामने झूलता रहता था। इसलिए ऐसे अनेक रूपक हमें उनकी रहस्य-भावना के अन्तर्गत मिलते हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने दाम्पत्य-भाव के रूपक भी खड़े किए हैं। उन्होंने आत्मा को 'पत्नी', और परमपुरुष को 'पति' के रूप में मानकर दाम्पत्य-प्रेम के अत्यन्त उत्कृष्ट चित्र उतारे हैं। उनकी रचनाओं में उनकी आत्मा कहीं 'विरहणी' का रूप धारण करती हुई अपने प्रिय के वियोग में छटपटाती है; तो कहीं उसका सानिध्य प्राप्त करते ही आनन्द-विभोर हो उठती है। इस स्थिति में आत्मा रूपी पत्नी अपनी सारी शक्तियों को परमात्मा रूपी पति में समर्पित करके उल्लासित हो उठती है। आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा की इन दोनों अवस्थाओं को हम 'आध्यात्मिक विरह' और 'आध्यात्मिक संयोग' का नाम दे सकते हैं। दाम्पत्य-भाव-प्रधान रहस्यवाद में इन्हीं दोनों का प्रधान्य होता है। कबीर ने इन दोनों प्रकार की अवस्थाओं का चित्रण अत्यन्त सुन्दर शब्दों में किया है। दाम्पत्य-संबंध के आधार पर रंगरेज, धोबी, बटोहिया, नैहर, ससुराल, आदि के उनके रूपक बड़े मनोहर और हृदयग्राही हैं। एक रूपक देखिए :—

नैहर में दाग लगाय आई चुनरी।
ऊ रंगरेजवा कै भरम न जानै, नहिं मिलै धोबिया कवन करै उजरी।
तन कै कूंडी, ज्ञान सउंदन, साबुन महंग बिकाय या नगरी।
पहिर ओढ़ कै चली ससुरिया, गाँव के लोग कहैं बड़ी फुहरी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, बिन सतगुर कबहूँ नहीं सुधरी।

कबीर की रचनाएँ इस प्रकार के रहस्य भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। हम अन्यत्र बता चुके हैं कि कबीर ने अपनी रहस्य भावना के अन्तर्गत योग को भी स्थान दिया है। योग का शब्दिक अर्थ है जोड़ना। आत्मा जिस शारीरिक अथवा मानसिक साधन से परमात्मा में जुड़ जाय, वही योग है। माया के प्रभाव से मुक्त आत्मा जब परम सत्य के अनुभव-द्वारा समाधिस्त होकर परमात्मा में लीन हो जाती है तब योग सफल माना जाता है। योग कई प्रकार के हैं—ज्ञान योग, राज योग, हठ योग और कर्म योग। योग-सूत्र के निर्माता पंतजलि ने योग-साधन के आठ अंग माने हैं जिन्हें अष्टांग कहते हैं। अष्टांग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। कबीर ने इनमें से प्रत्येक के संबंध में कुछ-न-कुछ कहा है, पर उसका स्पष्टीकरण नहीं किया है। इसलिए उनका यौगिक रहस्यवाद अत्यन्त जटिल हो गया है। इसी प्रकार जहाँ उन्होंने पारिभाषिक अथवा संख्यावाचक शब्दों के आधार पर अपनी रहस्य भावना को व्यक्त किया है वहाँ भी वह जटिल और क्लिष्ट हो गए हैं। यहीं है कबीर की रहस्य-साधना जो अत्यन्त जटिल होते हुए भी मधुर और क्लिष्ट होते हुए भी स्वाभाविक है।

कबीर पर प्रभाव

यहाँ तक तो हुआ कबीर की विचार-धारा के संबंध में। अब हम यह देखेंगे कि उनपर युग के वातावरण का क्या प्रभाव पड़ा था? उनका आविर्भाव विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी में हुआ था। उस समय भारत में अनेक मत-मतांतर प्रचलित थे और प्रत्येक सम्प्रदाय कई शाखाओं और उपशाखाओं में विभाजित था। उन शाखाओं और उपशाखाओं में परस्पर इतना मत-भेद था कि उनमें किसी प्रकार का समन्वय भी नहीं हो सकता था। प्रत्येक की अपनी डफली और अपना राग था। अपने साम्प्रदायिक नियमों के सामने एक सम्प्रदाय के अनुयायी दूसरे सम्प्रदाय के अनुयायियों की ओर दृष्टिपात करना भी अपने लिए अपमान-जनक समझते थे। दंभ, पाखण्ड तथा अहंकार का सर्वत्र बोलबाला था और धर्म वस्तुतः व्यक्तिगत आध्यात्मिक कल्याण का एक प्रमुख साधन होने के थान पर पथ-भ्रष्टता तथा सामाजिक विशृंखलता का एक बहुत प्रभावशाली

कारण बन गया था। ऐसे दूषित वातावरण से कबीर ने क्या लिया और क्या नहीं लिया?—यह जानने के लिए हमें उस समय की उन धार्मिक विचार-धाराओं पर विचार करना होगा जो उत्तरी भारत में प्रचलित थीं और जिनके संपर्क में कबीर को आने का अवसर मिला था।

ऐतिहासिक दृष्टि से कबीर के समय में मुख्यतः निम्न धार्मिक विचार-धाराएँ प्रचलित थीं :—

१. सगुण वैष्णव धारा।
२. निर्गुण ज्ञानश्रयी धारा।
३. नाथ-पंथी योग की धारा।
४. सूफ़ी प्रेम-मार्गी धारा।
५. इस्लाम की एकेश्वरवादी धारा।

उपर्युक्त पाँच धाराओं का कबीर की साधना पर पृथक अथवा सामूहिक रूप से क्या प्रभाव पड़ा?—यही हमें देखना है और यह केवल इसलिए कि उनके आलोचकों ने अपनी रुचि एवं खोज के अनुसार उन्हें जैसा चाहा है वैसा बना दिया है। कुछ आलोचकों ने उन्हें सगुण भक्तों की कोटि में रखा है, कुछ ने उन्हें ज्ञानी के रूप में अंकित किया है, कुछ ने उन्हें योगी माना है, कुछ ने उन्हें सूफ़ी और इस्लाम धर्म का अनुयायी समझा है और कुछ ने उन्हें ईसाई धर्म से भी प्रभावित पाया है। तात्पर्य यह कि जितने प्रकार के उनके आलोचक हैं उतने ही प्रकार के उनके कबीर के संबंध में मत हैं। इसके दो कारण हैं। पहला तो यह कि कबीर ने कहीं भी शास्त्रीय विधि से अपने सिद्धांतों की समीक्षा नहीं की और दूसरा यह कि उन्होंने अपने समय के विभिन्न मत-मतांतरों के मूल सिद्धान्तों को अपनाकर उनमें इतना सूक्ष्म अन्तर कर दिया कि जबतक उनकी सम्पूर्ण विचार धारा पर एक साथ विचार न किया जाय तब तक उनका रहस्य ही नहीं खुलता। इसके साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कबीर ने अपने समय के किसी भी प्रचलित मत का खंडन अथवा उपहास नहीं किया। अपने युग के प्रत्येक मत के प्रति उनका आदर का भाव था और यदि उनका विरोध था तो केवल उन अनुयायियों से जो अपने मत को

मानते हुए भी पाखंडी, धूर्त और ढोंगी थे। वह प्रत्येक धर्म में सत्य का समावेश पाते थे। यदि किसी अनुयायी को अपने धर्म में सत्य का साक्षात्कार नहीं होता तो यह उस धर्म का नहीं, अपितु उस व्यक्ति का ही दोष था। कबीर कहते हैं :-

बेद, कतेब कहो क्यों झूठा, झूठा जो न बिचारै।

स्पष्ट है कि कबीर अपने वातावरण से प्रभाव-ग्रहण में अत्यन्त सतर्क थे। वह अपने मन और मस्तिष्क पर पड़े हुए प्रत्येक प्रभाव को पहले अपनी मानसिक तुला पर तौलते थे और जब वह खरा उतरता था तब उसमें किंचित परिवर्तन करके अथवा उसे ज्यों-का-त्यों स्वीकार करके उस पर अपने व्यक्तित्व की छाप लगा देते थे। इसीलिए कभी वह मुसलमान, कभी हिन्दू, कभी ईसाई, कभी योगी, कभी वैष्णव भक्त, कभी संत और कभी सूफ़ी मालूम होते हैं। इस प्रकार उन पर अपने युग के धार्मिक वातावरण का प्रभाव है भी और नहीं भी है। वह अपनी धार्मिक साधना में अनेक होकर एक और एक होकर अनेक जान पड़ते हैं।

कबीर के संबन्ध में इतना समझ लेने के पश्चात् हमें उन पर पड़े हुए प्रभावों का मूल्यांकन करने में विशेष सुविधा होती है। हम उनके युग की पाँच प्रमुख धाराओं का उल्लेख कर चुके हैं। इन्हें हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं :—एक है भारतीय धारा और दूसरी है अभारतीय अथवा विदेशी धारा। विदेशी धारा के अन्तर्गत दो धाराएँ प्रमुख हैं—एक है इस्लाम की एकेश्वरवादी धारा और दूसरी है सूफ़ियों की प्रेम-मार्गी धारा। कबीर मुसलमान थे। इसलिए इस्लाम की एकेश्वरवादी धारा तथा सूफ़ियों की प्रेम-मार्गी धारा के प्रति उनका मोह होना स्वाभाविक कहा जा सकता है। परन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर हमें इस दिशा में निराश होना पड़ता है। कबीर मुसलमान थे अवश्य, पर उन्होंने अपनी साधना-पद्धति के लिए अपने पैतृक धर्म से कुछ भी नहीं लिया। इस्लाम के एकेश्वरवाद की प्रति उनका आदर का भाव था, पर उसमें उनका विश्वास नहीं था। उन्होंने सुन्नत, गो-वध, रोज़ा, नमाज़, ईद, बक़रीद, सामूहिक उपासना आदि का ही विरोध नहीं किया, अपितु उस ख़ुदा को भी स्वीकार नहीं किया जो इस्लाम की धर्म-पुस्तक 'क़ुरान' के अनुसार मुसलमानों का

'ख़ुदा' कहा जा सकता है ; मुसलमानों का 'ख़ुदा' अथवा अल्लाह अपनी रची हुई दुनिया और जीवों पर शासन करता है। वह अपने ऊपर (ख़ुदापर) ईमान-लानेवालों पर रहम करता है और उन्हें बहिश्त (स्वर्ग) देता है, परन्तु जो उस पर ईमान नहीं लाते वे उसकी दृष्टि में काफ़िर हैं और वह उन्हें दोज़ख़ (नर्क) देता है। वह जीव और आत्मा का जनक है। इसलिए जीव और आत्मा से उसकी पृथक सत्ता है। स्पष्ट है कि कबीर का 'ख़ुदा' मुसलमानों का 'ख़ुदा' नहीं है। कबीर का 'ख़ुदा' घट-घट व्यापी है। वह सब जगह है, सब काल में है, सर्व्यापी है। वह गुणातीत है। उसका न आरंभ है और न अन्त। जीव अथवा आत्मा उससे भिन्न नहीं है। इस प्रकार कबीर का एकेश्वरबाद इस्लाम के एकेश्वरवाद से सर्वथा भिन्न है। निराकार दोनों मानते हैं, पर दोनों की दृष्टि से उसकी कल्पना में पर्याप्त अन्तर है। मुसलमान अपने 'ख़ुदा' को 'राम' कहकर संबोधित नहीं करेगा। कबीर के लिए इसका कोई महत्त्व नहीं है। उनका 'ख़ुदा' राम, रहीम, करीम, गोविन्द सब कुछ है। वह साम्प्रदायिकता के संकुचित घेरे से बहुत ऊँचे उठा हुआ है। वह झगड़े की जड़ नहीं है। वह प्रेम का प्रतीक और सब के लिए एक-सा है। उसकी दृष्टि में न कोई हिन्दू है, न मुसलमान; न कोई ऊँच, न कोई नीच। उसका सब पर अधिकार और सब का उस पर अधिकार है। कबीर के ऐसे 'ख़ुदा' को हम इस्लामी 'ख़ुदा' नहीं कह सकते। इस प्रकार हम देखते हैं कि इसलाम धर्म के प्रति कबीर का आदर का भाव तो है, उसमें उनका विश्वास नहीं है, इसलिए अपनी साधना-पद्धति के विकास में वह इस्माल-धर्म के ऋणी नहीं हैं।

सूफ़ी धर्म-भावना इस्लाम धर्म का ही एक अंग है। भारत में इसका प्रचार कबीर के पूर्व से ही हो रहा था और कबीर का इससे परिचय भी था। अपने समय के सूफ़ी महात्माओं का सत्संग भी उन्होंने किया था और उनके उपदेश भी उन्होंने सुने थे, परन्तु उन्होंने उनसे कुछ भी नहीं सीखा। उनकी रचनाओं में कहीं भी कोई ऐसा तत्व नहीं है जिसके आधार पर निश्चित रूप से यह कहा जा सके कि वह सूफ़ी धर्म से प्रभावित थे। अधिकांश आलोचकों ने उनके प्रेम और विरह तत्त्व को प्रधानता देकर उन्हें सूफ़ी मत से प्रभावित होने

की घोषणा की है, पर ध्यान से देखने पर यह सर्वथा भ्रामक ही सिद्ध होता है। साधना के क्षेत्र में संयोग और वियोग का समावेश भारतीय देन है। कबीर इसी देन से प्रभावित हैं। सूफ़ियों के संयोग-वियोग में प्रेमी-प्रेमिका का भाव है। उसमें दाम्पत्य-भाव की पवित्रता नहीं है। आशिक़ (प्रेमी) और पति एक ही नहीं हैं। इसी प्रकार माशूक़ (प्रेमिका) और पत्नी में भी अन्तर है। कबीर का संयोग और वियोग भारतीय भाव से ओतप्रोत है। 'हरि मेरा जीव मैं हरि की बहुरिया' तथा 'हरि मेरा पीव भाई हरि मेरा जीव। हरि बिनु रहि न सके मेरा जीव॥'—में 'पीव' और 'बहुरिया' के पीछे भारतीय दाम्पत्य-जीवन की जो व्यंजना है वह सूफ़ियों की देन नहीं है। सूफ़ियों के लिए परमात्मा, 'माशूक' और जीवात्मा 'आशिक' है, कबीर के लिए परमात्मा 'पति' और जीवात्मा 'पत्नी' है। इस सम्बन्ध में यह कहना भी अनुचित न होगा कि कबीर ने परमात्मा को केवल पति रूप में ही नहीं, अपितु पिता, माता, स्वामी आदि रूपों में भी चित्रित किया है। सूफ़ी सम्प्रदाय में इस प्रकार की स्वतंत्रता नहीं है। यह अवश्य मान्य है कि कबीर ने सूफ़ियों के कई पारिभाषिक शब्दों और उनकी कई शैलियों को अपना लिया है, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उन्होंने उनको उसी अर्थ में स्वीकार किया है जिस अर्थ में सूफ़ी उनका प्रयोग करते हैं। कबीर विचारक और बुद्धिवादी थे। उनकी बुद्धि की तुला पर जो बात खरी उतरती थी उसे ही वह स्वीकार करते थे। परानुभूति को स्वानुभूति के रूप में स्वीकार करके उन्होंने कहीं भी अपनी साधना के क्षेत्र को कलंकित नहीं किया। हम तो यह समझते हैं कि सूफ़ियों से उन्हें प्रेरणा अवश्य मिली होगी, पर उन्होंने उससे स्वतन्त्र रह कर ही अपना मार्ग बनाया होगा।

कुछ लोगों ने विशेषतः विदेशी विद्वानों ने कबीर को ईसाई-धर्म से भी प्रभावित माना है। ईसाई-धर्म क्या, हमारा तो विश्वास है कि विश्व के सभी धर्मों का कुछ-न-कुछ प्रभाव कबीर पर मिलेगा। प्रश्न यह है कि क्या कबीर ने वास्तव में इतने धर्मों का अध्ययन और उनके आधारभूत सिद्धान्तों का विश्लेषण किया था? इस प्रश्न का उत्तर हमें 'नहीं' में ही देना होगा। कबीर अशिक्षित थे। यात्रा की सुविधाएँ भी उस समय नहीं थीं। भारत में विदेशी

साधु-सन्तों का जमाव भी नहीं था ! ईसाई-धर्म का प्रचार पाश्चात्य देशों में तो हो गया था, पर भारत में उसकी हवा तक नहीं थी। कबीर योरप नहीं गये। ऐसी दशा में इधर-उधर से कुछ रचनाएँ बटोरकर कबीर को ईसाई-धर्म से प्रभावित मानना कबीर के प्रति ही नहीं; भारतीय धर्म-साधना के प्रति अन्याय करना है। कल्पना और विचार का क्षेत्र असीम है। देश और काल की सीमाएँ उस पर प्रतिबन्ध नहीं लगा सकतीं। कबीर तत्त्वदर्शी थे। यदि उन्होंने कोई ऐसी बात सोच ली जो किसी धर्म में भी मिलती हैं तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि वह उस धर्म विशेष से प्रभावित थे।

यहाँ तक हमने देखा कि कबीर अपनी साधना-पद्धति के निरूपण में किसी भी अभारतीय धार्मिक विचार-परंपरा से प्रभावित नहीं थे। अब हम भारतीय धर्म-साधना की दृष्टि से उनकी साधना-पद्धति पर विचार करेंगे और यह देखेंगे कि उन्होंने इस क्षेत्र से भी कुछ प्रभाव ग्रहण किया है अथवा नहीं। इस संबंध में अनेक गंभीर प्रश्नों पर विचार करने के पूर्व यदि हम यह कह दें कि वह भारतीय धर्म-साधना से पूर्णतया प्रभावित थे तो कदाचित अनुचित न होगा। भारतीय धर्म-साधना का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और विशाल है। उसमें विश्व को सभी साधना-पद्धतियों का समाहार हो जाता है। हम अन्यत्र बता चुके हैं कि कबीर के जीवन-काल में उत्तरी भारत में कई मत-मतांतर फैले हुए थे। बौद्ध-धर्म लुप्तप्राय हो चुका था, परन्तु उसके स्थान पर उसका महायानी रूप वर्तमान था। इसके अतिरिक्त सिद्धों के वज्रयानी तथा सहजयानी सम्प्रदाय भी थे। साथ ही निरंजन-पंथ, तंत्र-मत और नाथ-पंथ की भी धूम थी। जैन-धर्म का भी अच्छा प्रचार था। इन सब मत-मतांतरों के मूलभूत सिद्धन्तों से कबीर का परिचय था। कबीर की रचनाओं को देखने से ऐसा लगता है कि वह अन्य मतों की अपेक्षा सहजयानी सम्प्रदाय और नाथ-पंथ के सिद्धान्तों से विशेष प्रभावित थे। बाबा गोरखनाथ के प्रति उनका आदर का भाव था। उन्होंने अपनी रचनाओं में यत्रतत्र नाथ-पंथी कनकटा योगियों और अवधूतों के स्वरूप का भी वर्णन किया है। योगियों के चिह्न—किंगरी, मेखला, सींगी, जनेव, घंघारी, रुद्राक्ष, अधारी, गूदरी, खप्पर और झोला भी उनकी

रचनाओं में आए हैं, परन्तु एक सच्चे योगी के लिए कबीर ने इन चिह्नों को वाह्यडंबर मान कर इनकी निंदा की है। वह कहते हैं:—

सो जोगी जाके मन में मुद्रा।
राति-दिवस न करई निद्रा॥
मन में आसन, मन में रहना।
मन का जप तप मन सूँ कहना॥
मन में खप्परा मन में सींगी।
अनहद नाद बजावै रंगी॥
पंच परजारि भसम करि भूका।
कहै कबीर सो लहसै लूका॥

ऐसे ही और भी कई पद कबीर की रचनाओं में मिलते हैं जिनसे नाथ-पंथ के वाह्यडंबरों के प्रति उनका विरोध स्पष्ट हो जाता है। बाबा गोरखनाथ के 'अलख जगाने' के भी वह समर्थक नहीं हैं। वह राम की कृपा में विश्वास करते हैं। राम की कृपा उनके लिए मुख्य है, साधना गौण है। बाबा गोरखनाथ के लिए साधना प्रमुख है, राम की कृपा नहीं। कबीर के राम उदार हैं, भक्तों पर दया करनेवाले हैं, गोरखनाथ के राम सिद्धों की ज्योति के व्यक्त रूप निरंजन राम हैं। यहीं कबीर का गोरख से बिलगाव है। एक बात में अन्तर और है। कबीर के लिए जो गुरू का महत्त्व है वही बाबा गोरख के लिए नहीं है। बाबा गोरखनाथ के गुरू काया-साधना और योग के विशेषज्ञ हैं, कबीर के गुरू आत्मा और परमात्मा के बीच संबध स्थापित करनेवाले हैं। भाषा और अभिव्यक्ति के क्षेत्र में कबीर नाथ-पंथ से अवश्य प्रभावित हैं। उन्होंने 'नाद' 'विन्दु,' 'सुरति-निरत' आदि अनेक परिभाषिक शब्दों को अपनाने के साथ-साथ गोरख के कई वाक्यों और वाक्यांशों को भी अपना लिया है। उनकी शैली भी गोरख की ही शैली है। गोरख की भाँति वह भी खण्डन-मंडन करते हैं और गुरू का महत्त्व स्थापित करते हैं। सहजयानी सिद्धों और नाथ-पंथी योगियों का अक्खड़पन भी उनमें हैं। परन्तु इन सब पर कबीर के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। कबीर की भाषा कबीर की ही भाषा है, गोरख की

नहीं। इसी प्रकार उनकी भाषा-शैली, खंडन-मंडन की उनकी पद्धति आदि पर भी उन्हीं का रंग चढ़ा हुआ है। सहज, समाधि, शून्य, षटचक्र, इड़ा, पिंगला, शुषुम्ना आदि परिभाषिक शब्द भी उनके लिए निजी महत्त्व रखते हैं।

स्पष्ट यह है कि कबीर अपने सिद्धान्तों के निरूपण में अपने समय के उपर्युक्त मत-मतांतरों से अत्यधिक प्रभावित नहीं हैं। अपनी रचनाओं में उन्होंने न तो उनकी प्रशंसा की है, और न खुलकर उनका समर्थन ही किया है। वैष्णव-धर्म की प्रशंसा उनकी रचनाओं में अवश्य मिलती है और उसके कतिपय सिद्धान्तों का उन्होंने स्पष्ट रूप से समर्थन भी किया है। कर्मवाद, जन्मांतर वाद, भाग्यवाद, अहिंसावाद, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि में कबीर की वैसी ही आस्था और श्रद्धा है जैसी कि वैष्णव-भक्तों में पाई जाती है। तात्विक दृष्टि से माया का विरोध और व्यावहारिक दृष्टि से उसकी मान्यता का समर्थन तथा वर्णव्यवस्था का विरोध भक्तों की भांति कबीर ने भी किया है। वैष्णव-मत में भगवान के दोनों रूपों—सगुण और निर्गुण—की प्रतिष्ठा है। कबीर ने भगवान के निर्गुण रूप को ही अपना उपास्य माना है और इस दिशा में वह उपनिषदों की शिक्षा से विशेष प्रभावित हैं। उनके निर्गुण ब्रह्म, आत्मा और ब्रह्म के एकत्व तथा इस एकत्व के ज्ञान से मुक्ति आदि के सिद्धान्त मूलतः उपनिषदों में ही मिलते हैं। उपनिषदों का प्रभाव वैष्णव-धर्म पर भी पड़ा है। कबीर ने भगवान को निर्गुण, पारब्रह्म, निरंजन, जोति, स्वयंप्रकाश आदि कहते हुए भी उसे राम, राघुनाथ, रघुराई, मोहन, बीठला (विष्णु), बनवारी, हरि, गोविन्द, केशव, मुरारी आदि नामों से संबोधित करके वैष्णवी सिद्धान्त का ही समर्थन किया है। वैष्णव-भक्ति को नारदी भक्ति भी कहते हैं जिसे कबीर ने स्वयं स्वीकार किया है :—

भगति नारदी रिदै न आई, काछि-कूछि तन दीना।

× × ×

भगति-नारदी मगन सरीरा, इहि विधि भवतरि, कहैं कबीरा॥

नारदी भक्ति में अवतारवाद, मूर्तिपूजा, यज्ञ, जप तप, कंठी, माला, लोक-वेद की मर्यादा, तीर्थ-व्रत आदि का भी विशेष महत्व है। कबीर ने इन वाह्य

आचारों और आडम्बरों का विरोध किया है। उनका इस प्रकार का विरोध नारदी भक्ति का विरोध नहीं है। नारदी भक्ति में इन वाह्य आचारों का विशेष महत्व नहीं है। भारतीय धर्म-साधना के चार अंग माने जाते हैं—(१) कर्म, (२) ज्ञान, (३) योग और (४) भक्ति। इन चारों में परस्पर किसी प्रकार का विरोध नहीं है। इनका लक्ष्य एक ही है। इनमें से कर्म प्रवृत्ति मार्ग है और ज्ञान, योग तथा भक्ति निवृत्ति-मार्ग हैं। कबीर ने अपनी धर्म-साधना में केवल निवृत्ति-मार्ग का अनुसरण किया है। उनकी दृष्टि में प्रवृत्ति-मार्ग भक्ति में बाधक होता है। उनका यह दृष्टिकोण भी भारतीय परम्परा के सर्वथा अनुकूल ही सिद्ध होता है। श्रीमद्भागवत में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान दान, तप, यज्ञ, शौच और व्रत से प्रसन्न नहीं होते, वह केवल विमल भक्ति से प्रसन्न होते हैं। कबीर विमल भक्ति में ही विश्वास करते हैं। इसीलिए उन्होंने, हिन्दू और मुसलमान, दोनों को उनके पाखंडपूर्ण व्यवहारों के लिए फटकारा है, उनकी कटु शब्दों में भर्त्सना की है और उन्हें शुद्ध हृदय से भगवान की भक्ति करने का उपदेश दिया है। इस प्रकार उनकी भक्ति 'निरोध-रूपा' सिद्ध होती है। निरोध का अर्थ है—लौकिक-वैदिक कर्मों का त्याग। कबीर किसी भी कामना से प्रेरित होकर भगवान की भक्ति नहीं करते। उनकी भक्ति निष्काम भक्ति है। वह कुछ चाहते नहीं, कुछ मांगते नहीं। आत्मा और परमात्मा का सम्मिलन ही उनकी भक्ति का लक्ष्य है। इसलिए हम उनकी भक्ति को आत्मैकपरा भी कह सकते हैं। ऐसी भक्ति के लिए अवतारवाद और मूर्तिपूजा के समर्थन की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसके अनुसार भक्त अपने समस्त आचारों को भगवान को अर्पण कर देता है। इस प्रकार कबीर इसी साधना-मार्ग से प्रभावित हैं। हम देखते हैं कि उनके ज्ञान-मार्ग पर उपनिषदों के ब्रह्मवाद का और योग-मार्ग पर पतंजलि के योग-दर्शन का प्रभाव है। योग चित्त-वृत्ति-निरोध की ओर निर्देश करता है और चित्त-वृत्ति-निरोध आवागमन से मुक्ति दिला देता है। कबीर सांसारिक बन्धनों से मुक्त होना चाहते हैं। इसलिए वह केवल ज्ञान और भक्ति-द्वारा ही जीवन की मुक्ति नहीं मानते। जीवन की मुक्ति के लिए वह योग को भी आवश्यक समझते हैं। तात्पर्य यह कि ज्ञान, भक्ति और

योग—इन तीनों का संतुलित समिश्रण ही हमें उनकी साधना-पद्धति में मिलता है और इसके लिए वह वैष्णव-धर्म के ऋणी हैं। वैष्णव-धर्म से प्रभावित होने के कारण ही उन्होंने शाक्त मत की उपेक्षा की है। वैष्णव-मत की श्रेष्ठता प्रकट करते हुए वह कहते हैं :—

कबीर धनि ते सुंदरी जिन जायो बैसनौं पूत।
राम सुमिर निरभै हुआ, सब जग गया अऊत॥

× × ×

साषत बामण मति मिलै, बैसनौं मिलै चंडाल।
अंक माल दे भेंटिए, मानो मिले गोपाल॥

× × ×

चन्दन की कुटिकी भली, ना बबूर की अंबराउं।
बैसनों की छपरी भली, ना साषत का बड़ गाउं॥

× × ×

साषत से सूकल भला, सूंचा राखे गाँव॥

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि कबीर शैव एवं शाक्त मत के घोर विरोधी थे। शैवों के भस्म धारण करने तथा जटा बढ़ाने आदि की चर्चा तो उन्होंने अपनी रचनाओं में की ही, साथ ही शाक्तों के प्रति घृणा का भाव भी व्यक्त किया। ऐसा लगता है कि शाक्तों के हिंसात्मक आचरण तथा उनके मद्य-पान ने ही उन्हें उनके मत के प्रति घृणा के भावों से इतना भर दिया कि उनके सम्पर्क में आना भी उन्होंने उचित नहीं समझा। 'कबीर साषत की सभा तू मत बैठे जाइ' तथा 'साषत संग न कीजियै, दूरहि जइये भागि'—से उनकी शाक्त-विरोधी-भावना ही व्यजित होती है।

यही है कबीर पर पड़े हुए विभिन्न प्रभावों का संक्षिप्त विवेचन। इस विवेचन से स्पष्ट है उनमें अद्भुत सारग्राही शक्ति है। अपनी इसी शक्ति के कारण उन्होंने विभिन्न मतावलंबियों के सत्संग से जो कुछ प्राप्त किया है उसे भलीभाँति पचाकर उस पर उन्होंने अपने व्यक्तित्व की छाप लगा दी है। साधारण दृष्टि से देखनेवाला कबीर को बहुरूपिया ही समझेगा, परन्तु जो उनकी वाणियों के भीतर घुसेगा उसे उनकी साधना के विभिन्न पक्षों में एक ही विचार-धारा

उपमान है और न भाषा में चमत्कार अथवा अभिव्यक्तिपरक भाव में उक्ति-वैचित्र्य उत्पन्न करने का साधन। इसके प्रयोग की आवश्यकता केवल उस समय और ऐसे अवसरों पर पड़ती है जब अनुभूतियों का भार संभालने और उन्हें व्यक्त करने में भाषा अशक्त हो जाती है। संतों की अनुभूतियाँ आध्यात्मिक होने के कारण रहस्यपूर्ण होती हैं। इसलिए उन्हें इसका सहारा लेना पड़ता है। कबीर ने भी इसके द्वारा अपनी अनुभूतियों का प्रकाशन किया है।

भारतीय साहित्य में प्रतीकों का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है। आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में वैदिक ऋषियों ने भी इनका आश्रय लिया था। उपनिषदों में ब्रह्म का वर्णन सूर्य-चन्द्र आदि के प्रतीकों से किया गया है। सूफ़ी तथा नाथ-पंथियों के साहित्य में भी इनका प्रचुर प्रयोग मिलता है। ऐसा लगता है कि कबीर इस दिशा में सूफ़ियों और नाथ-पंथियों की पद्धति से अधिक प्रभावित थे। उनका प्रतीक-योजना नाथ-पंथियों और सूफ़ियों से बहुत-कुछ मिलती-जुलती हैं।

प्रतीकों का चुनाव जीवन के प्रायः सभी उपयुक्त क्षेत्रों से किया जा सकता है। वे दाम्पत्य-भाव-संबंधी, सख्य-भाव-संबंधी, वात्सल्य-भाव-संबंधी, जीविका-संबंधी, कार्य-व्यापार-संबंधी और पशु-पक्षी-संबंधी होने के अतिरिक्त ऐसे भी हो सकते हैं जो किसी सम्प्रदाय-विशेष की परंपरा के अनुसार सुदीर्घ काल से प्रसिद्ध रहते आए हैं। मानव-शरीर-संबंधी अनेक ऐसे स्थान और अंग जिनके विषय में हमारी धारणाएँ बन चुकी हैं और जो रूढ़िगत हो गए हैं, प्रतीकों का काम दे सकते हैं। इसी प्रकार योग-साधना-संबंधी अनेक पारिभाषिक शब्दों और संख्यावाचक शब्दों से भी उनकी योजना प्रस्तुत करने में सहायता ली जा सकती है। कबीर ने इन सब प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग अपनी अनुभूति के प्रकाशन में किया है। पारिवारिक जीवन-संबंधी प्रतीकों में वात्सल्य-भाव एवं सख्य भाव के प्रतीकों के अतिरिक्त उन्होंने दाम्पत्य-भाव के प्रतीकों का अधिक प्रयोग किया है। उदाहरण लीजिए :—

हरि जननी मैं बालक तेरा, काहे न औगुण बकसहु मेरा।

× × ×

वै दिन कब आवहिंगे माय।
जा कारन हम देह धरी है मिलवो अङ्ग लगाय॥

× × ×

पूत पियारौ पिता कौ।

× × ×

हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया, राम बड़े मैं छुटक लहुरिया॥

कबीर ने प्रतीक रूप में दाम्पत्य-प्रेम का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। उनके दाम्पत्य-प्रेम की प्रमुख विशेषता पवित्रता, सात्विकता और आध्यात्मिकता है। उसमें जहाँ विरह-मिलन के चित्र अंकित किए गए हैं वहाँ वासना की दुर्गन्ध नहीं है। इस दिशा में सूफ़ियों की अपेक्षा उन्हें विशेष सफलता मिली है। सूफ़ियों ने अपने दाम्पत्य-प्रेम के निरूपण में मानवीय नाम के प्रतीकों का आश्रय लिया है, परन्तु कबीर 'हरि', 'पीव' और 'बहुरिया' से आगे नहीं बढ़े। उन्होंने सांसारिक प्रेम के आधार पर अपने प्रतीकों का चुनाव नहीं किया। कथा के माध्यम से भी उन्होंने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों का प्रकाशन करना उचित नहीं समझा। सभवतः इसी कारण कबीर के दाम्पत्य-प्रेम के चित्रण में जो पवित्रता और समर्पण है वह सूफ़ियों के दाम्पत्य प्रेम के चित्रण में नहीं आ सकी। सूफ़ियों की प्रतीक-योजना के क्षेत्र की भाँति कबीर की प्रतीक-योजना का क्षेत्र संकुचित नहीं था। कबीर ने पारिवारिक जीवन-संबंधी प्रतीक ही नहीं, जीविका-संबंधी, वस्तु-संबंधी और पशु-जीवन-संबंधी प्रतीकों का भी आश्रय लिया। उनकी अभिव्यक्ति में जहाँ जुलाहा, रंगरेज, बणजारा, कुंभार, कलाल आदि प्रतीक बनकर आये वहाँ गुड़िया, डोली, रहटा, चरखा, रस, कामधेनु आदि को भी स्थान मिला। शून्य, गगन, त्रिकुटी, षट् चक्र, कुंडलिनी, ब्रह्मरंध्र और बंक-नाल आदि के सांकेतिक रूपों के प्रतीकों की भी उन्होंने योजना की। गंगा, यमुना, सूर्य, चन्द्र, सुरति, निरति, अजपा और अनहद आदि जैसे परंपरागत पारिभाषिक शब्दों के प्रतीक भी उन्होंने अपनाये। कतिपय संख्यावाचक प्रतीकों का भी उन्होंने प्रयोग किया। वह कवि नहीं थे। अपनी अभिव्यक्ति में उन्होंने

कवि-कर्म को महत्त्व नहीं दिया। इसलिए अपनी अनेक प्रतीक-योजनाओं में शास्त्रीय दृष्टि से वह कहीं सफल हुए और कहीं नहीं भी हो सके हैं।

कबीर उच्चकोटि के संत थे। उनकी आत्मा परमात्मा से मिलकर एक हो गई थी और उन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त हो चुकी थी। इसलिए उनकी दृष्टि में सीधे-उल्टे का कुछ भेद भाव नहीं था। वह उस स्थिति में पहुँच चुके थे जहाँ किसी प्रकार के भेद-भाव के लिए स्थान ही नहीं था। क्या सीधा है और क्या उल्टा—इस प्रकार की छानबीन आलोचक ही करते हैं।

कबीर की उलटवाँसियाँ

कबीर के आलोचक जब उनकी रचनाओं का अध्ययन करते हैं तब उन्हें सीधी और उल्टी दोनों प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। उनकी सीधी रचनाएँ तो हम उन्हें कह सकते हैं जिसमें उन्होंने सांसारिक ढंग से अपनी अनुभूतियों को व्यक्त किया है। इसके विपरीत उनकी ऐसी रचनाएँ भी हैं जिनमें उन्होंने अपनी अनुभूतियों का प्रकाशन कुछ उल्टे ढग से किया है। उदाहरण के लिए देखिए :—

(१) बैल बियाय गाय भई बाँझ, बछरा दूहैं तीनों साँझ।
(२) एक अचंभा देखा रे भाई। ठाढ़ा सिंह चरावै गाई॥
(३) पहिले पूत पीछे भइ माइ। चेला के गुरु लागै पाइ॥
(४) पानी बिच मीन पियासी। मुझे सुन-सुन आवै हांसी॥

कबीर की ऐसी रचनाओं को उलटवाँसी की संज्ञा दी जाती हैं। उलटवाँसियाँ मनोरजन को पहेलियाँ नहीं हैं। सांसारिक पहेलियाँ बुझाने के लिए सांसारिक अनुभव और शब्द चातुर्य की आवश्यकता होती है, परन्तु उलटवाँसियों का अर्थ वही खोल सकता है जो तत्वज्ञानी होता है। तत्वज्ञानी ही अपनी अनुभूतियो की अभिव्यक्ति के लिए इस शैली का प्रयोग करता है और वही उनका का अर्थ भी स्पष्ट करता है।

हिन्दी-साहित्य में कबीर ही उलटवाँसियो के प्रथम प्रणेता के रूप में स्वीकार किए जाते हैं। यह भी कहा जाता है कि उनके पूर्व नाथ-पंथी योगी और सहजयानी सिद्धों, बौद्धों तथा जैनियों ने भी इस शैली का प्रयोग किया था।

खोज से यह भी पता चला है कि ऋग्वेद और उपनिषदों में भी इस प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। इससे स्पष्ट है कि भारतीय साहित्य में उलटवाँसियों की परंपरा अत्यन्त प्राचीन है। कबीर ने अपनी ऐसी रचनाओं को 'उल्टा वेद' कह कर उनकी प्राचीनता का ही समर्थन किया है।

कबीर की उलटवाँसियों में आध्यात्मिक उक्तियाँ पायी जाती हैं। इन उक्तियों में अत्यधिक चमत्कार होता है। कहा जाता है कि नाथ-पन्थी योगी और सहजयानी सिद्ध अपनी चमत्कारपूर्ण उक्तियों-द्वारा जनता को अपने मत की ओर आकृष्ट करते थे। यह भी हो सकता है कि साधना-सम्बन्धी बातों को उन्होंने लोक में सीधे-सादे ढंग से प्रकट करना उचित न समझा हो और उन्हें कुछ घुमा-फिराकर कहने के लिए उलटवाँसियों की शैली का उपयोग किया हो। जो भी हो, यह स्पष्ट है कि कबीर के सामने ऐसी कोई समस्या नहीं थी। अपने समय के पंडितों और ज्ञानियों को चुनौती देते हुए उन्होंने इतना अवश्य कहा था :—

सोई पंडित सो तत ग्याता, जो इहि पदहिं विचारै।
कहै कबीर सोइ गुर मेरा, आप तिरै, मोहिं तारै॥

और इस चुनौती के साथ ही उन्होंने 'बूझौ अकथ कहाणी' कहकर लोगों को उसमें निहित रहस्य को समझने के लिए आमंत्रित भी किया था। इससे स्पष्ट है कि कबीर अपनी उलटवाँसियों-द्वारा न तो जनता को अपनी ओर आकृष्ट करके अपने महत्त्व को स्थापित करना चाहते थे और न उनमें निहित चमत्कारपूर्ण उक्तियों-द्वारा वह उसे अपने मत में दीक्षित करना चाहते थे। उनका एक मात्र उद्देश्य था जनता को सत्य से परिचित कराना। इसलिए उन्होंने अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जहाँ अन्य साधनों को अपनाया, वहाँ उन्होंने अपने समय की इस शैली को भी स्वीकार कर लिया।

कबीर की रचनाओं को देखने से पता चलता है कि उन्होंने अनेक उलटवाँसियों की रचना की है। प्रकृति की दृष्टि से हम उनकी उलटवाँसियों को तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं :—(१) अलंकार-प्रधान, (२) अद्भुत

रस-प्रधान और (३) प्रतीक-प्रधान। यहाँ इन्हीं के संबंध में विचार किया जाता है।

(१) अलंकार-प्रधान उलटवाँसियाँ—अलंकार-प्रधान उलटवाँसियाँ अधिकांश विरोध-मूलक होती हैं। विरोध-मूलक होने के कारण ही उनमें चमत्कार भी अधिक पाया जाता है। 'ठाढ़ा सिंह चरावै गाय' में विरोध है। सिह गाय का शत्रु है, फिर भी वह गाय चराता है। यही इसमें चमत्कार है। विरोध-मूलक अलंकार अतिशयोक्ति अलंकार का एक भाग होता है। कबीर का अलंकार-प्रधान उलटबाँसियों में इसी की विशेषता पाई जाती है।

(२) अद्‌भुत रस-प्रधान उलटवाँसियां—अद्‌भुत रस-प्रधान उलटवाँसियाँ भी विरोध-मूलक होती हैं और उनमें चमत्कार भी पाया जाता है। अन्तर केवल इतना है जहाँ अलंकार-प्रधान उलटवाँसियों में अलंकार का स्थान प्रमुख होता है वहाँ अद्‌भुत रस प्रधान उलटवाँसियों में अलंकार का स्थान गौण होता है। कबीर की रचनाओं में ऐसी अनेक उलटवाँसियाँ मिलती हैं जिनमें अद्‌भुत रस की प्रधानता है। उदाहरण लीजिए :—

बिनु चरनन को दुहुँ दिस धावे, विन लोचन जग सूझै।
ससैं उलटि सिंघ को ग्रासै, ई अचरज को बूझै॥

\+ + +

मूसा पैठा बांबि में, लारै सापणि धाइ।
उलटि मूसै सापणि गिलीं, यहु अचरज भाइ॥

(३) प्रतीक-प्रधान उलटवाँसियां—प्रतीक-प्रधान उलटवाँसियों की रचना प्रतीकों के आधार पर की जाती है। ऐसी उलटवाँसियों में प्रतीकों के साथ रूपक का भी सन्निवेश रहता है। कुछ उलटवाँसियाँ ऐसी होती हैं जिनमें प्रतीक-योजना गौण और रूपक-योजना प्रमुख होती है। इन्हें हम मूलतः रूपक प्रधान उलटवाँसियाँ कह सकते हैं। इसके विरुद्ध जिन उलटवाँसियों में प्रतीक योजना मुख्य और रूपक योजना गौण होती है उन्हें हम मूलतः प्रतीक प्रधान उलटवाँसियाँ कह सकते हैं। कबीर ने इन दोनों प्रकार की उलटवाँसियों की रचना की है। प्रतीक-प्रधान उलटवाँसी का एक उदाहरण लीजिए :—

को अस नगर करै कोतवलिया,
माँसु फैलाय गीध रखवरिया।
मूस भौ नाँव, मंजार कडहरिया,
सोवै दादुर, सरप पहरिया॥
बैल बियाय गाय भै बंझा,
वघवहिं दुहहिं तीनि तीनि संझा
नित उठ सिंध सियार सौं जूझै,
कबीर के पद जन बिरला बूझै।

इस पद में आए हुए 'नगर', 'मांसु,' 'गीध', 'मंजार', 'दादुर', 'सांप' आदि शब्द विभिन्न विषयों के प्रतीक के रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं। 'नगर', शरीर और संसार का, 'गीध' विषाक्त मन का, 'माँसु' विषय-वासना का, 'मंजार' वंचक गुरुओं का, 'मूस' उनके शिष्यों का, 'दादुर' अज्ञानियों का, 'साँप' अहंकार का, 'सियार' जीवात्मा का और 'जूझना' मन को वश में लाने की चेष्टा का प्रतीक है। ऐसे ही सश्लिष्ट प्रतीकों के सहारे उलटवाँसियों में रूपक खड़ा किया जाता है।

उलटवाँसियों का विभाजन विषय के अनुसार भी किया जा सकता है। परशुराम चतुर्वेदी ने इस दृष्टि से पाँच भेद किए हैं जो उनके शब्दों में इस प्रकार हैं :—

(१) वे जिनमें सांसारिक भ्रम, प्रपंच, व्यवहार जैसे विषय आते हैं और वे भी जो कबीर साहब की व्यक्तिगत समस्याओं की चर्चा करते हैं;
(२) वे जिनमें साधनात्मक रहस्यों का परिचय पाया जाता है;
(३) वे जिनमें ज्ञान विरह, सहजानुभूति अथवा आध्यात्मिक जीवन का वर्णन रहा करता है;
(४) वे जिनमें आत्मज्ञान, माया, काल, सृष्टि एवं मन जैसे विषयों के स्वरूप का परिचय दिया गया है; और
(५) वे जिनके द्वारा कबीर साहब सर्वसाधारण को किसी-न-किसी रूप में अपना संदेश देते जान पड़ते हैं।

इसी प्रकार उन्होंने उलटवाँसियों के उन माध्यमों के अनुसार भी उनका वर्गीकरण किया है जिनके द्वारा अलंकारादि का प्रयोग किया जाता है। उनका यह वर्गीकरण इस प्रकार है :—

(१) कुछ माध्यमों का आधार गृह, बन, उद्यान वा शरीर जैसी वस्तुएँ हैं;

(२) कुछ का संबंध विविध प्राणियों अथवा प्राकृतिक वस्तुओं के विभिन्न कार्यों वा व्यापारों से रहता है;

(३) कुछ में व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक वा ग्रामीण जीवन का चित्र पाया जाता है, और शेष में कभी-कभी;

(४) इन सभी का सम्मिश्रण मिलता है और इसी माध्यम से वे बहुत कुछ अस्पष्ट और भ्रमात्मक भी जान पड़ती हैं।

कबीर का लोक-जीवन से परिचय था। इसलिए उन्होंने अपने समय के लोक-जीवन के अनुरूप उन्हीं माध्यमों का सहारा लिया जो सरल और बोधगम्य थे। ऐसे माध्यमों के सहारे उन्होंने दृश्यमान बातों की ही चर्चा की और इसके साथ ही उन गूढ़ विषयों का भी दिग्दर्शन कराने की चेष्टा की जिनका समझना केवल तत्त्व-ज्ञानियों के लिए ही संभव था। उनकी इसी शैली में उनके पश्चात भी उलटवाँसियाँ लिखी गयीं और उनका प्रचार भी हुआ, परन्तु कबीर को इस दिशा में जो सफलता मिली वह दूसरों को नसीब नहीं हुई।

कबीर की शैली

कबीर संत-कवि ही नहीं, शैलीकार भी थे। उनका आविर्भाव हिन्दी-साहित्य के उस युग में हुआ था जब वीरगाथा-काल की शैलियाँ लुप्त होती जा रहीं थी और उनके स्थान पर विभिन्न सम्प्रदायों के धर्म-गुरुओं की 'बानियों' का प्रचलन बढ़ता जा रहा था। नाथ-पंथी, सहजयानी सिद्ध:, जैनी, सूफ़ी, निरंजनी, वैष्णव, शैव, शाक्त—सब के अपने-अपने अख़ाड़े थे जहाँ आध्यात्मिक और दार्शनिक विषयों पर पद्य के माध्यम से चर्चा होती रहती थी। कबीर ने भी अपनी आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के लिए पद्य का ही आश्रय लिया। उन्होंने भी 'बानियाँ' कहीं और 'साखियों' के रूप में दोहों की रचना की। उन्होंने उन छन्दों को भी

अपनाया जिन्हें गा-गाकर तत्कालीन साधु-संत अपने आध्यात्मिक विचारों का प्रचार निम्नवर्ग के लोगों में कर रहे थे। इसके आगे वह नहीं बढ़े। काव्य-चातुर्य दिखाना उन्हें अभीष्ट नहीं था। अपने समय के साधु-सन्तों की भाँति ही उन्हें भी अपने आध्यात्मिक विचारों का प्रचार करना था। उन्हें ऐसा आदेश मिला था अपने परमतत्व से। वह कहते हैं:—

हरिजी यहै बिचारिया, साषी कहौ कबीर।
भौसागर में जीव हैं, जो कोई पकड़े तीर॥

कबीर अपने 'हरि' के इस आदेश की उपेक्षा न कर सके। सांसारिक माया-मोह में लिप्त जीवों को भव-सागर से पार लगाने के लिए उनके पास जैसी टूटी-फूटी भाषा, विचारों और भावों का जो सौंदर्य, अनुभूतियों का जो वैभव, अलंकारों की जो निधि, रस की जो तन्मयता, साधु-सन्तों से प्राप्त छन्दों की जो योजना और स्वर एवं ताल की जो विभूति थी उन सब से उन्होंने अपनी वाणी का शृंगार किया। उनके काव्य का शरीर उनका अपना न भी रहा हो, पर उसमें प्राण उन्हीं का था। यही कारण है कि सहस्रों कवियों के बीच वह आसानी से पहचाने जा सकते हैं। उनकी रचना-शैली उनके व्यक्तित्व का, उनकी साधना का प्रतिनिधित्व करती है और यही उसकी सर्वप्रथम विशेषता है।

कबीर की रचना-शैली साधु-संतों की रचना-शैली है। उसमें राग-रागिनियों की सरसता के साथ-साथ सरलता, सुबोधता और स्पष्टता है। उसमें न तो शब्दाडम्बर है और न पांडित्य-प्रदर्शन का प्रयत्न। वह अत्यन्त स्वाभाविक और आकर्षक है। कबीर किसी बात को घुमा-फिराकर कहना नहीं जानते। जब वह देखते हैं कि उनकी भाषा उनके विचारों के वहन में असमर्थ है तब वह जीवन के क्षेत्र से उपलब्ध कतिपय प्रतीकों के सहारे उनकी अभिव्यक्ति करते हैं। उनके इस प्रकार के स्वाभाविक प्रयत्न में अलकार और रस स्वयं अपना स्थान बना लेते हैं। उनकी रचना-शैली में भाषा, छन्द, अलंकार, रस—सब उनके भावों का अनुगमन करते हैं। वह इन सब की पहले से योजना बनाकर अपनी अनुभूतियों का प्रकाशन नहीं करते। अनुभूति का उद्रेक होने पर अनायास ही इन सब का आयोजन हो जाता है और उस समय जो कुछ भी वह कहते हैं वह

कविता ही होती है। उनकी रचना-शैली की यह विशेषता उनके वर्ग के अन्य संतों में कम पायी जाती है।

कबीर के कहने का ढंग भी निराला है। वह अपनी सब बातें सबसे एक साथ ही नहीं कहते। वह उपयुक्त अवसर पर कहते हैं और उसी से कहते हैं जिससे कहना उन्हें अभीष्ट होता है। हिन्दू-शास्त्रों की बात करते समय पंडितों को, इस्लाम-धर्म की बात करते समय शेख़ और मुल्लाओं को, योग की बात करते समय योगियों को; शैव-मत की बात करते समय शिव के उपासकों को और भक्ति की बात करते समय साधुओं को ही वह सबोधित और निर्भीकता-पूर्वक उनकी आलोचना करते हैं। कोई बात किससे, कब और कहाँ कहनी चाहिए, इसका उन्हें बहुत ध्यान रहता है। उनकी शैली में जो प्रभावोत्पादकता और जो चुटालीपन है उसका यही कारण है।

कबीर की तर्क-शैली विचित्र है। वह किसी बात का समर्थन अथवा विरोध शास्त्रीय नियमों के अनुसार न करके, जीवन-से प्राप्त अनुभूतियों के आधार पर करते हैं। वह तर्क-शास्त्र के ज्ञाता रहे हों अथवा न रहे हों, इतना वह अवश्य जानते थे कि जिस स्तर के लोगों के हृदय से अंधविश्वास, पाखंड और माया-मोह के इन्द्रजाल को दूर करना है उस स्तर के लोगों के लिए तर्क की अपेक्षा अनुभूतियों का ही विशेष महत्त्व हो सकता है। तर्क मस्तिष्क की उपज है और अनुभूति का स्थान है हृदय। कबीर हृदय को निर्विषय बनाकर उसी के द्वारा सत्य की उपलब्धि करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने अपनी शैली को अपनी अनुभूति का दान देकर उसे शुष्क होने से बचा लिया।

कबीर बहुश्रुत-संत थे। भारत के विभिन्न प्रांतों के साधु-सन्तों के साथ उनका सत्संग होता रहता था। एक-दो दिन नहीं, हफ्तों और महीनों ऐसे सत्संगों में विचारों का आदान-प्रदान होता रहता था। कबीर सुनते सब की थे, पर करते और कहते वही थे जिसको उनका हृदय और मस्तिष्क एक स्वर से स्वीकार करता था। वह जो कुछ सुनते थे उस पर वह गम्भीरतापूर्वक विचार करने के पश्चात् स्वतन्त्रता और निर्भीकतापूर्वक अपनी अनुभूति के अनुसार उसका प्रकाशन करते थे। उनका एक ही लक्ष्य था—परमतत्त्व की प्राप्ति। अपने

जीवन की प्रत्येक समस्या उन्होंने इसी लक्ष्य की सिद्धि की ओर उन्मुख कर दी थी। इसलिए उनके जीवन और चिन्तन में साम्य था। यही साम्य हम उनकी शैली में भी पाते हैं। उनकी समासोक्तियाँ, उनकी उलटवाँसियाँ, उनकी अन्योक्तियाँ, उनकी साखियाँ, उनके सबद, उनकी बानी, उनकी रमैनी—सब में एक ही स्वर हैं, सबका एक ही लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति उन्होंने अपने हृदय की संपूर्ण शक्ति से की है। वह अपने प्रत्येक शब्द में, अपने प्रत्येक पद में बोलते हुए से दीख पड़ते हैं।

कबीर की भाषा

कबीर की भाषा का रूप विवादग्रस्त है। इस संबंध में जिन लोगों ने अपने विचार व्यक्त किए हैं उनमें से किसी ने 'कबीर बीजक' को, किसी ने 'आदि ग्रन्थ' को और किसी ने 'कबीर-ग्रन्थावली' को प्रमाणित मानकर अपना निर्णय दिया है। 'कबीर-बीजक' में संगृहीत रचनाओं की भाषा के संबंध में रेवरेंड अहमद शाह का मत है कि वह 'बनारस, मिर्जापुर एवं गोरखपुर के आस-पास की बोली' है। अन्य आलोचकों ने भी इसी मत की पुष्टि की है और 'आदि-ग्रन्थ' में संगृहीत कबीर-बानियों की भाषा पर विचार करते हुए यह कहा है कि 'कबीर की भाषा का व्याकरण पूर्वी-हिन्दी का रूप लिए हुए' है। इसी प्रकार 'कबीर-ग्रंथावली' की भाषा के संबंध में किसी ने उसे 'पंचमेल खिचड़ी', किसी ने राजस्थानी और किसी ने पंजाबी से प्रभावित कहा है। कुछ ऐसे भी आलोचक हैं जिन्होंने उसे मुख्यतः ब्रजभाषा और गौणतः पूर्वी हिन्दी तथा खड़ीबोली का मिश्रित रूप माना है। तात्पर्य यह कि कबीर के जितने आलोचक हैं उतने ही उनकी भाषा के संबंध में मत हैं।

कबीर ने अपनी भाषा के संबंध में कहीं कुछ भी नहीं कहा है। 'कबीर-बीजक' में संगृहीत इस साखी,

बोली हमारी पूरब की हमैं लखै नहिं कोय।
हम को तो सोई लखै, धुर पूरब का होय॥

के आधार पर कुछ आलोचकों ने यह अनुमान लगा लिया है कि उन्होंने अपनी बोली को 'पूरब की' माना है, परन्तु यहाँ इस प्रकार का अनुमान युक्ति-संगत

नहीं जान पड़ता। उन्होंने 'पूरब' शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक अर्थ से किया है, भाषा की दृष्टि से नहीं। इसलिए उक्त साखी के आधार पर उनकी भाषा के सम्बन्ध में हम किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सकते।

कबीर की भाषा का वास्तविक रूप निश्चित करते समय अनेक कठिनाइयाँ सामने आती हैं। सबसे बड़ी कठिनाई है—उनकी रचनाओं के प्रमाणिक संस्करण का अभाव। इसके अतिरिक्त 'कबीर-बीजक', 'आदि-ग्रन्थ' और 'कबीर-ग्रन्थावली' में उनकी जो रचनाएँ संगृहीत हैं उनमें इतना पाठान्तर है कि ऊन्हें कबीर-कृत मानने का साहस नहीं होता। क्षेपक भी एक बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं और वे कबीर की रचनाओं के साथ इस प्रकार घुले-मिले हैं कि उन्हें पहचानना कठिन हो जाता है। कबीर की निरक्षरता भी हमारे निर्णय में बाधक होती है। वह लिखना नहीं जानते थे। ऐसी दशा में यह अनुमान लगाना सहज है कि उनके पदों को उनके भिन्न-भिन्न शिष्यों अथवा अन्य भक्तों, ने लिखा होगा और उनपर अपनी भाषा का रंग चढ़ा दिया होगा। उनकी सम्पूर्ण रचनाएँ उनके जीवन-काल में ही लिख ली गयी हों—यह भी संदिग्ध ही है। संभव है उनकी अधिकांश रचनाएँ उनके जीवन-काल में लिख ली गयी हों और शेष उनकी मृत्यु के पश्चात लिपि-बद्ध हुई हों। ऐसी दशा में कबीर की भाषा के संबंध में हमारा जो भी निर्णय होगा वह अधूरा ही कहा जायगा।

कबीर भाषा के पंडित नहीं थे। उन्होंने न तो किसी आचार्य से भाषा की शिक्षा ली थी और न अपनी लम्बी-लम्बी यात्राओं के अनुभव से ही अपने शब्द कोश की अभिवृद्धि की थी। वह बहुश्रुत अवश्य थे। उनके यहाँ नित्य विभिन्न प्रान्तों के साधु-संत आते थे और आध्यात्मिक विषयों पर विचार-विनिमय करते थे। ऐसे सत्संगों का प्रभाव उनकी भाषा पर अवश्य पड़ा होगा और उन्होंने विभिन्न प्रान्तों के साधु-संतों को उनकी बोली में अपने विचारों को समझाने की चेष्टा की होगी। यह भी हो सकता है कि उनके जीवन-काल में उनकी रचनाओं का राजस्थान, पंजाब, बिहार आदि प्रान्तों में अत्यधिक प्रचार हो गया हो और वहाँ के लोगों ने उनकी भाषा में अपनी सुविधा के अनुसार यत्र-तत्र परिवर्तन कर दिया हो। यह भी अनुमान किया जाता है कि ऐसा कुछ भी न हुआ

हो और उन्होंने नाथ-पंथियों की भाषा का प्रचलित रूप ही अपना लिया हो। जो भी हो, यह सर्वमान्य है कि उनकी भाषा पर, पंजाबी, राजस्थानी, अवधी, ब्रज, भोजपुरी, अरबी, फ़ारसी, खड़ीबोली, बिहारी और कहीं-कहीं मैथिली तथा बंगाली का प्रभाव है। इन प्रान्तीय भाषाओं के शब्द ही नहीं, क्रियापदों और कारक-चिह्नों का भी प्रयोग उनकी भाषा में मिलता है। उदाहरण लीजिए :—

(१) अवधी का प्रभाव :—

१. तैसै नाचत मैं दुख पावा।

२. कौन पुरुस, को काकी नारी।

(२) भोजपुरी का प्रभाव :—

१. फूल फल फूलल मालिनि भल गांथल।

२. दांत गैल मोर पान खात, केस गैल मोर गंग नहात।

(३) ब्रजभाषा का प्रभाव :—

१. अपनपौ आपही विसर्‌यौ।

२. धन, दारा, सुत, राज-काज हिय माथे भार गह्यौ।

(४) पंजाबी का प्रभाव :—

१. पहुप बिना न एक तरवर फलिया।

२. लूण बिलग्गा पाणियाँ, पानी लूंण बिलग्ग।

(५) राजस्थानी का प्रभाव :—

१. क्या जाणौं उस पीव को कैसें रहसी रंग?

२. बीछड़ियाँ मिलिबौ नहीं ज्यों काचली भुवंग।

(६) खड़ीबोली का प्रभाव :—

१. करणी किया करम का नास।

२. जाऊँगा न आऊँगा, मारूंगा न जीऊँगा।

(७) फ़ारसी का प्रभाव—

१. हम चु बूद निबूद खालिक गरक हम तुम पेस।
कबीर पनह खुदाइ की रह दिगर दावा नेस॥

२. पीरां मुरीदां काजियां मुला अरु दरवेस।
कहां थैं तुम किन किये, अकलि है सब नेस॥

स्पष्ट है कि कबीर की भाषा का कोई निश्चित रूप नहीं है। वह न तो भोजपुरी है, न अवधी, न ब्रजभाषा, न पंजाबी, न राजस्थानी और न खड़ी-बोली। इन सबका घालमेल उसमें अवश्य है। इस प्रकार के घालमेल को लक्ष्य करके पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर की भाषा को 'कुछ पंजाबी लिए राजस्थानी' कहा है और 'बीजक' की भाषा के संबंध में लिखा है कि इसकी (साखी की) भाषा सधुक्कड़ी अर्थात राजस्थानी-पंजाबी खड़ीबोली है, पर 'रमैनी' और 'सबद' में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है।' श्री पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव एम० ए० का इस मत से विरोध है। उनका कहना है कि 'यदि कबीर की भाषा को कोई नाम देना आवश्यक हो तो उसे सधुक्कड़ी की अपेक्षा खड़ीबोली कहना अधिक सार्थक होगा, क्योंकि उसमें से कोई रूप फूट रहा है तो वह खड़ीबोली का। इसके अतिरिक्त खड़ीबोली का खरापन भी उसमें पूर्ण मात्रा में वर्तमान है। खड़ी के साथ-साथ जो और-और रूप भी उसमें लिपटे हुए हैं वे किसी भी ऐसी सामान्य भाषा के लिए स्वाभाविक है जो नई-नई साहित्य में प्रयुक्त हुई हो और जो बोलचाल की भाषा से अभिन्नप्राय हो।' अपने इस मत की पुष्टि में वह कहते हैं कि 'मुसलमानों के दिल्ली में जमने से पूर्व ही एक सामान्य भाषा का विकास उसी प्रकार होता आ रहा था जैसे अन्य देशी भाषाओं का। नाथ-पंथियों ने राजस्थानी-पंजाबी का पुट देकर उसे बनाया नहीं, प्रत्युत उसके प्रचलित रूप में ही उसे ग्रहण किया। यद्यपि यह उस समय की शिष्ट और साधु कही जानेवाली भाषा नहीं है, तथापि इसका ढाँचा परंपरा से चली आती हुई काव्य-भाषा का ही है। पुरानी काव्य-भाषा खड़ीबोली से अपरिचित नहीं थी—यह शुक्ल जी के कथन से भी स्पष्ट है। शुक्ल जी ने लिखा है—'पुरानी हिन्दी की व्यापक काव्य-भाषा का ढाँचा शौरसेनी प्रसूत अपभ्रंश अर्थात ब्रज और खड़ीबोली (पच्छिमी हिन्दी) का था'। पं० परशुराम चतुर्वेदी भी इसी मत से प्रभावित जान पड़ते हैं। उनका कहना है कि 'कबीर साहब के समय

तक मत-प्रचार का कार्य अन्य लोग भी करते आ रहे थे और उनके उपदेशों की भाषा एक सामान्य रूप धारण करती जा रही थी। अपने मूल स्थानों से दूर दूर तक जाकर धर्मोपदेश करनेवाले अधिकतर उसी का व्यवहार करते थे। बाहर से आनेवाले तथा विशेषतः फ़ारसी-अरबी से अभिज्ञ सूफ़ियों के लिए तो वह, कदाचित, एकमात्र माध्यम बन चुकी थी। इस देश के निवासी धर्मोपदेशक तक, अपने-अपने क्षेत्रों में काम करते समय, इससे सहायता लिए बिना नहीं रह पाते थे। इस मिश्रित भाषा में 'हिंदवी' अथवा पुरानी खड़ीबोली का अंश अधिक रहता था और उसके अतिरिक्त उसमें पूर्वी हिन्दी, ब्रज तथा पछाहीं बोलियाँ तक मिली-जुली रहती थीं।' इन मतों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कबीर ने अपने समय की सामान्य भाषा के रूप को ही अपनाया और उसी में उन्होंने रचनाएँ कीं। उनकी जो रचनाएँ सुदूर पंजाब, गुजरात, राजस्थान एवं महाराष्ट्र तक श्रद्धालु यात्रियों-द्वारा पहुँचीं उन पर वहाँ की बोलियों का यहाँ तक प्रभाव पड़ा कि उनमें आए हुए क्रियापद और कारक-चिह्न आदि परिवर्तित हो गए, परन्तु इसके विरुद्ध उनकी जो रचनाएँ काशी के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत अन्य भागों, बिहार तथा मध्यप्रदेश जैसे स्थानों तक पहुँचीं उनमें वहाँ के निवासियों की बोली प्रधानतः ब्रज, अवधी अथवा भोजपुरी होने के कारण इस प्रकार के अधिक परिवर्तन संभव न हो सके। यही है कबीर की भाषा का रहस्य जिसे समझ लेने से हमारी बहुत सी कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं।

कबीर की भाषा की अपनी विशेषताएँ भी हैं। उनकी भाषा सरल, सीधी-सादी, स्वाभाविक, प्रभावोत्पादक और प्रसाद एवं माधुर्य गुणयुक्त है! उसमें प्रवाह नहीं है, पर उसका रूप अधिकतर विषय, व्यक्ति और भाव के अनुकूल है। गंभीर विचारों एवं अनुभूतियों के प्रकाशन में वह सशक्त और समर्थ भी है। वह सरल होते हुए भी गंभीर, संकेतात्मक, प्रतीतात्मक और पारिभाषिक है। उसमें अनेक ऐसे शब्द मिलते हैं जो एक साथ अनेक विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उसकी यह भी विशेषता है कि उसमें शब्दों के विकृत रूप ही अधिक प्रयुक्त हुए हैं। कहीं-कहीं तो उनका रूप इतना विकृत हो गया है कि उनके वास्तविक

रूप का पता लगाना ही कठिन हो जाता है। संस्कृत, फ़ारसी, अरबी—किसी भाषा का शब्द क्यों न हों वह अपने विकृत रूप में ही उसमें स्थान पा सका है। इसके अतिरिक्त उसमें देशज और शब्दों के ग्रामीण प्रयोग भी मिलते हैं। कबीर ने इन सबका प्रयोग भावानुकूल एवं समयानुकूल किया है। इसलिए उनकी भाषा का रूप सर्वत्र एकसा नहीं है। मुसलमानों से बातें करते समय उनकी भाषा का जो रूप होता है वही रूप पंडितों से बातें करते समय नहीं रहता। मुसलमानों से वह अरबी-फ़ारसी मिश्रित उर्दू में, तथा पडितों से वह संस्कृत मिश्रित हिन्दी में बातें करते हैं। इसी प्रकार वह अपनी अनुभूतियों के चित्रण में भी सजग और सतर्क दिखाई देते हैं। उनकी अनुभूतिपूर्ण रचनाओं में एक भी ऐसा शब्द नहीं है जो अरबी अथवा फ़ारसी से आया हो। फारसी एवं अरबा के शब्दों का प्रयोग उन्होंने विशेष अवसरों पर ही किया है और उनकी संख्या भी अपेक्षाकृत कम है। ऐसे शब्दों की यदि सूची बनाई जाय तो उसमें खलक, खुदा, गुलाम, हलाल, रहीम, करीम, पाक, बिसमिल, हज, सबूरी, काबा, पीर, पैगम्बर, राजा, निवाज, सुनीत, मसकीन, मुरसिद आदि की ही अधिकता मिलेगी।

सारांश यह कि कबीर की भाषा न तो 'साधुक्कड़ी' है और न 'पंचमेल खिचड़ी'। वह रूढ़ काव्य-भाषा भी नहीं है। वह है उस सामान्य भाषा का रूप जिसका प्रचार गुजरात से बिहार तक और पंजाब से दक्षिण तक हो चुका था। सामान्य भाषा का अर्थ है—वह भाषा जिसका प्रचार किसी एक वर्ग अथवा प्रदेश में सीमित न होकर समान रूप से कई वर्गों अथवा प्रदेशों में हो। ऐसी भाषा बोलचाल की भाषा भी हो सकती है और काव्यपरक भी। कबीर ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए उस भाषा के उसी रूप को अपनाया जो काव्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो चुका था। उन्होंने किसी नई भाषा का निर्माण नहीं किया। वह भाषा-विशेषज्ञ नहीं थे। भाषा को 'पंचमेल खिचड़ी' और 'सधुक्कड़ी' बनाने के लिए जिस कला की आवश्यकता होती है, वह कबीर में नहीं थी। कबीर के लिए भाषा का कोई महत्त्व भी नहीं था। अपने 'हरि' के सन्देश को लोगों तक पहुँचाने के लिए वह उसी भाषा का प्रयोग कर सकते थे जो सर्व ग्राह्य, सरल,

सुबोध और सब जगह समझी जानेवाली हो। ऐसी भाषा उनके सामने थी। उन्होंने उसी को अपनाया और अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त की।

कबीर के संबंध में यहाँ तक विचार करने के पश्चात् यह सहज ही प्रश्न उठता है कि उन्होंने अपने युग को कहाँ तक प्रभावित किया और उन्हें अपने उद्देश्य में कितनी सफलता मिली? इस प्रश्न के उत्तर में दो ही बातें विचारणीय हैं। इनमें से एक का संबंध उनके सिद्धान्तों से और दूसरी का संबंध उनकी सामाजिक मान्यताओं से है। जहाँ तक उनके सिद्धान्तों के प्रभाव का प्रश्न है, वह एक सीमित क्षेत्र के भीतर ही सफल कहे जा सकते हैं। यह सत्य है कि उनके जीवन-काल में ही पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, गुजरात आदि प्रान्तों में उनके सिद्धान्तों का प्रचार हो चुका था और यह भी सत्य है कि उन्होंने अद्वैतवादी सिद्धान्तों की शुष्कता को अपनी अनुभूति के स्पर्श से सरसता में परिणत कर दिया था, परन्तु इतना होते हुए भी उन्होंने अपनी व्यक्तिगत साधना का जो आदर्श प्रस्तुत किया वह इतना ऊँचा और प्रयत्न-साध्य था कि साधारण जनता उसकी ओर आकृष्ट नहीं हो सकती थी। निर्गुण निराकार से न तो सब प्रेम कर सकते थे और न सब शून्य में समाधि ही लगा सकते थे। ऐसी स्थिति में उनके सिद्धांतों का प्रभाव केवल उन्हीं लोगों पर पड़ा जो यातो व्यक्तिगत साधना में विश्वास करते थे या साधु-सन्तों के रूप में तानपूरा लिए हुए एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में घूमते फिर रहे थे।

कबीर का प्रभाव

कबीर के सिद्धान्तों का व्यापक प्रभाव न पड़ने का एक कारण यह भी था कि वह जाति के जुलाहा थे। जुलाहा जाति के प्रति न तो उच्च वंशीय मुसलमान शेख़, सैयद, आदि का आदर का भाव था और न वर्ण-व्यवस्था में विश्वास करनेवाले उन हिन्दुओं का जो अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य समझते थे। अधिकांश मुसलमान उनके सिद्धान्तों को इसलिए भी उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे कि वे कुरान के अनुकूल नहीं थे और हिन्दुओं ने उनका इसलिए तिरस्कार किया कि वे एक मुसलमानी मस्तिष्क की उपज थे। समाज की ऐसी विषम परिस्थिति में कबीर को जो थोड़ा-बहुत प्रोत्साहन मिला वह केवल उन साधकों से

जिनका संबंध समाज के निम्न स्तर से था। समान के उच्च स्तर के लोग कबीर की सर्वथा उपेक्षा ही करते रहे।

कबीर स्वतंत्र प्रकृति के संत थे। व्यक्तिगत साधना में उनका अटल विश्वास था और वह लोगों को इसके सहारे ही उस परमतत्व का परिचय प्राप्त करने की शिक्षा देते थे। धर्म-साधना के क्षेत्र में वह विभिन्न सम्प्रदायों को व्यर्थ समझते थे। उनके विचार से अपने आध्यात्मिक सिद्धांतों का अनुसरण करने के लिए किसी सम्प्रदाय में दीक्षित होना अनिवार्य नहीं था। अपने इन्हीं स्वतंत्र विचारों के कारण उन्होने अपने नाम से किसी नवीन पंथ को जन्म देने की चेष्टा नहीं की। उनका विचार सम्प्रदाय-विरोधी विचार था। उनके इस प्रकार के विचारों को उनका युग स्वीकार करने के लिए तैयार न था। उनका युग विभिन्न प्रकार के सम्प्रदायों का युग था और उस युग का प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी सम्प्रदाय का सदस्य था। ऐसी स्थिति में उनके सिद्धान्तों का उचित प्रचार तभी संभव था जब वह किसी पंथ का आयोजन करते। एक पंथ को जन्म देकर अपने सिद्धान्तों के प्रचार करने का जो स्थायी प्रभाव पड़ता है वह श्रद्धालुओं-द्वारा किए गए प्रचार के प्रभाव की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होता है। ऐसी दशा में कबीर की यह भूल यदि वास्तव में भूल कही जा सकती है तो यह मानना होगा कि उनकी इस भूल को उनके सिद्धान्तों से प्रभावित नानक, दादू, पीपा, धन्ना, रविदास, सेन नाई आदि ने नहीं दुहराया। इन संतों ने अपने-अपने मतों का प्रचार करने के लिए अपने पंथ की स्थापना की। आज इनमें से कई पंथ काल के गाल में विलीन हो गए हैं, पर नानक-पंथ अब भी जीवित है और उसके अनुयायी एक बड़ी संख्या में पाए जाते हैं।

कबीर के सिद्धान्तों का स्थायी प्रभाव न पड़ने का एक कारण और था। कबीर की मृत्यु के पश्चात् 'नानक-पंथ' का उदय होने पर उनके शिष्यों ने उनके मत का प्रचार करने के लिए उनके नाम से जिस कबीर-पंथ की स्थापना की उसमें कबीर के सिद्धान्तों की अपेक्षा उनके जीवन को ही विशेष महत्त्व दिया गया। वह अवतारी पुरुष सिद्ध किए गये और उनके जीवन के संबंध में अनेक संभव और असंभव कथाएँ गढ़ ली गयीं। इतना ही नहीं, उनके जीवन से जिन

स्थानों का विशेष संबंध था उन्हें भी महत्त्व दिया गया। काशी स्थित 'कबीर-चौरा' तथा 'लहरतारा' और 'मगहर' कबीर-पंथियों के लिए तीर्थ-स्थान बन गये और वहाँ महंतों का बोलबाला हो गया। कबीर के नाम से मेले भी लगने लगे और उनकी समाधि का विधिवत पूजन भी होने लगा। इस प्रकार कबीर जिन बातों को व्यक्तिगत साधना के लिए अमान्य समझते थे उन सबको उनके मत में पुनः स्थान मिल गया। इसके अतिरिक्त कबीर के शिष्यों-प्रशिष्यों-द्वारा कबीर के मूल-सिद्धान्तों में भी परिवर्तन किया गया। इस प्रकार के कई परिवर्तनों के कारण 'कबीर-पंथ' से संबद्ध शाखाओं-प्रशाखाओं के बीच परस्पर इतनी प्रतिस्पर्धा बढ़ी कि कबीर के सिद्धान्तों का महत्त्व ही नष्ट हो गया। ऐसी दशा में कबीर की सार्वभौमिक साधना का जो उद्देश्य था वह पूर्णरूप से सफल न हो सका।

कबीर की विचार-धारा पर यदि हम और अधिक छान-बीन करें तो हमें यह भी ज्ञात होता है कि उनका मत लोक-विरोधी मत था। उन्होंने अपनी धर्म-साधना में लोक-धर्म की अपेक्षा अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों को ही प्रधानता दी थी। उन्होंने प्राचीन व्यवस्था के फेर में न पड़कर उसे स्वतंत्र ढंग से कोई नवीन, किन्तु सर्वमान्य रूप प्रदान करने का ही प्रयत्न किया था। उनका न तो हिंदुओं के धार्मिक ग्रन्थों--वेद, उपनिषद, पुराण, भागवत, गीता आदि में विश्वास था और न मुसलमानों के धार्मिक ग्रन्थ 'कुरान' में! इन ग्रन्थों में उन्हें अनेक त्रुटियाँ दीख पड़ती थीं और वह इन्हें झगड़े का घर समझते थे। तीर्थ, व्रत, रोज़ा, पूजा, जनेऊ, नमाज़, सुन्नत आदि सबको उन्होंने व्यर्थ ठहराया और अपने संबंध में यह कहा :—

पंडित-मुल्ला जो कह दीया।
छांड़ि चले हम कछु न लीया॥

कबीर का उक्त कथन कबीर और उनके जैसे इने-गिने व्यक्तियों के लिए ही सार्थक हो सकता था, परन्तु जो साधारण जनता शताब्दियों से अपने धर्म-ग्रन्थों में विश्वास करती चली आ रही थी उसे तो यह अनर्गल प्रलाप ही जान पड़ा। सबका तिरस्कार, सब की उपेक्षा और सबका विरोध करना उसके बस की बात नहीं थी। कहा जा सकता है कि जायसी, सूर, तुलसी, मीराँ आदि सब

अपनी-अपनी साधना में कबीर के सिद्धान्तों से कुछ-न-कुछ प्रभावित थे, परन्तु ध्यान से देखने पर यह पता चलेगा कि उक्त महात्माओं ने कबीर की केवल परममत्व-संबन्धी व्याख्या को ही स्वीकार किया, उनके लोक-धर्म-रहित सिद्धान्तों को नहीं अपनाया। उनका विश्वास था कि अंतिम सत्य एवं सर्वोत्तम आदर्श की झांकी उन्हें अपने प्राचीन धर्म-ग्रंथों में ही मिल सकती है और उसके द्वारा ही वे अपने विकृत समाज को उन्नत रूप दे सकते हैं। अपनी इस विचार-धारा के कारण जहाँ उन महात्माओं को अपने उद्देश्य में पूरी सफलता मिली वहाँ कबीर साधु सन्तों की मण्डली से आगे न बढ़ सके।

कबीर अपनी सामाजिक मान्यताओं की दृष्टि से भी सफल नहीं हुए। वर्ण-व्यवस्था तथा आश्रम-धर्म के विरुद्ध उन्होंने जो विचार व्यक्त किए थे वे भारतीय धर्म-साधना के क्षेत्र में नवीन नहीं थे। उनसे बहुत पहले महात्मा बुद्ध ने इन रुढ़ि-ग्रस्त रूपों को गतिमयता देने का प्रयत्न किया था, परन्तु उनके प्रयत्न की सीमाएँ समस्या को सुलझाने के स्थान पर स्वयं एक नवीन जाति छोड़ कर विलीन हो गईं। कारण स्पष्ट है। हिन्दू-समाज में वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-धर्म की जो मान्यता आज है, संभवतः उससे भी अधिक उनकी मान्यता बुद्ध के समय में थी। उनके समय तक उनकी रेखाएँ इतनी स्पष्ट और गहरी हो गयी थीं कि उन्हें मिटाना असम्भव था। कबीर के समय में मुसलमानों के आगमन ने तो उनको और भी रूढ़ि-ग्रस्त कर दिया था जिसके फलस्वरूप जातियों के व्यक्तिगत नियम पहले की अपेक्षा और भी कठोर हो गए थे और ऊँच-नीच की भावना अधिक बढ़ गयी थी। हिन्दुओं की भाँति ही मुसलमानों में भी ऊँच-नीच का विचार प्रवेश कर गया था। अरब, फ़ारस, अफ़गानिस्तान आदि से सीधे आए हुए मुसलमान अपने को उन मुसलमानों से उच्च समझने लगे थे जो हिन्दू अपना धर्म त्यागकर इस्लाम-धर्म में दीक्षित हो गए थे। हिन्दू और मुसलिम समाज की ऐसी स्थिति में कबीर को सफलता नहीं मिली। वह न तो जाति-भेद को ही दूर कर सके और न हिन्दू-मुसलिम एकता ही स्थापित कर सके। उनकी मृत्यु के पश्चात उनके शव के लिए उनके हिन्दू और मुसलमान शिष्यों की बीच जो झगड़ा उठ खड़ा हुआ वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उनके शिष्य

केवल उनके धार्मिक-सिद्धान्तों से ही प्रभावित थे, उनके सामाजिक सिद्धांतों से नहीं। आज भी हिन्दू और मुसलिम कबीर-पन्थी एक नहीं हैं। उनकी धार्मिक साधना भले ही एक हो, सामाजिक दृष्टि से उनमें विलगाव है।

कबीर के प्रभाव के संबंध में हमने अबतक जो विचार किया है वह यह मानकर कि कबीर प्रचारक, सुधारक और एक सिद्धांतविशेष के प्रवर्तक थे। उनकी सफलता और विफलता का प्रश्न उन्हें इसी रूप में मानकर उठाया जा सकता है, परन्तु यदि गहरी दृष्टि से देखें तो वह न प्रचारक थे, न सुधारक, और न किसी मत विशेष के प्रवर्तक। वह अपनी साधना में इतने महान, इतने ऊँचे उठे हुए थे कि उन्हें सांसारिक दोषों को दूर करने की चिन्ता तक नहीं थी। उन्होंने जो कुछ सोचा अपने लिए सोचा, जो कुछ किया अपने लिए किया, जो कुछ कहा अपने लिए कहा। उन्होंने अपने मन के भ्रम को स्वयं ही दूर किया। उनकी साधना में जो वाह्य तत्त्व बाधक थे उनकी उन्होंने जी भरकर निन्दा की और उन्हें अपने मन से दूर किया। यदि वह सुधारक, प्रचारक अथवा किसी मत विशेष के प्रवर्तक होते तो वह अपने इन रूपों के अनुकूल अपनी विचार-धारा बनाते। परन्तु उन्होंने ऐसा कुछ भी नहीं किया। वह तो एकान्त साधक थे और अपनी ही मौज में मस्त रहते थे। जायसी, सूर, तुलसी आदि की धर्म-साधना का आदर्श इससे भिन्न था। वे समाजवादी थे, कबीर व्यक्तिवादी थे। वे अपना ही उद्धार नहीं, अपने समाज का भी उद्धार चाहते थे। इसलिए उन्होंने अपने समाज की समस्त प्रवृत्तियों को अपनाया और उनके अनुकूल ही अपनी साधना का आदर्श प्रस्तुत किया। कबीर ने अपने समाज को अपने साथ नहीं लिया। उन्होंने अपनी व्यक्तिगत साधना का आदर्श सबके सामने रख दिया और उस पर चलना या न चलना उनकी इच्छा पर ही छोड़ दिया। ऐसा था कबीर का आदर्श जो व्यक्तिवादी होते हुए भी अपने में महान था। आज भारत के चिन्तक ही नहीं, विश्व के दार्शनिक भी उनके इस आदर्श की गुरुता और गंभीरता स्वीकार करते हैं और व्यक्तिवादी दृष्टि से उन्हें उच्चकोटि का संत मानते हैं।

अभी हमने कबीर (सं० १४२५-१५०५) की वैयक्तिक साधना की

समीक्षा की है और यह देखा है कि जायसी (सं० १५५१-१५९९) की तुलना में सामाजिक दृष्टि से वह सफल न हो सके।

कबीर और जायसी जायसी सूफ़ी मत में दीक्षित थे। सूफ़ी मत इस्लाम धर्म का ही एक उप-सम्प्रदाय है। इसका उदय रूढ़िवादी इस्लाम के एकेश्वरवाद की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था और कबीर के पूर्व ही भारत में इसका प्रवेश हो चुका था। इतिहास देखने से पता चलता है कि कबीर के युग तक उत्तरी भारत में लगभग १४ सूफ़ी-सम्प्रदाय फैल गए थे जिनमें चिश्तिया सम्प्रदाय, सुहरावर्दी सम्प्रदाय, क़ादरी सम्प्रदाय और नक़शबन्दिया सम्प्रदाय का प्रमुख स्थान था। इन सम्प्रदायों का इस्लाम-धर्म से केवल सैद्धान्तिक मत-भेद था। इस्लाम धर्म में जहाँ आस्था और आचरण को ही प्रधानता दी जाती हैं वहाँ सूफ़ी मत में आस्था और आचरण के साथ-साथ आध्यात्मिक सिद्धान्तों का भी समावेश किया जाता है। इस दृष्टि से जायसी सोलह आना मुसलमान और सूफ़ी थे। कबीर मुसलमान होते हुए भी मुसलमान नहीं थे। उनकी आस्था न तो क़ुरान में थी और न रोज़ा, नमाज़ और सुन्नत में। वह इस्लाम-धर्म के संकुचित घेरे से बहुत ऊँचे उठे हुए थे।

कबीर और जायसी की जीवन-परिस्थितियाँ भी भिन्न थीं। कबीर जुलाहा थे। कपड़ा बुनना उनका पैतृक व्यवसाय था। इस व्यवसाय को ही उन्होंने अपनी जीविका का साधन बनाया और इसी के द्वारा उन्होंने अपने परिवार का भरण-पोषण किया। वह गार्हस्थ्य थे। गृहिस्थ्य-धर्म में उनकी पूरी आस्था थी। वह पढ़े-लिखे नहीं थे। धर्म-ग्रंथों के कथन में उनका विश्वास नहीं था। आरंभ से ही वह एकान्त चिन्तक और मननशील थे। साधु-संतों के सत्संग में उन्हें विशेष आनन्द मिलता था। जायसी संभ्रान्त मुसलिम-कुल के किसान-पुत्र थे। बचपन में ही अपने माता-पिता के स्नेह से वंचित होने के कारण वह साधु-संतों के प्रभाव में आगए थे और उन्हीं के सत्संग के फलस्वरूप उनके हृदय में धार्मिक भावनाओं का उदय हुआ था। ऐसी दशा में उन्होंने गार्हस्थ्य-धर्म का पालन नहीं किया। वह साक्षर भी थे। ज्योतिष, रसायन, काव्य-शास्त्र, हठयोग, वेदान्त आदि विषयों का उन्हें अच्छा ज्ञान था। वह हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी और

अरबी भी जानते थे। अपने समय की विभिन्न साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों से भी वह परिचित थे। सूफ़ी-धर्म की ओर उनका विशेष झुकाव था और इसी धर्म के चिश्चितया संप्रदाय में वह दीक्षित थे। इस प्रकार जायसी और कबीर दोनों मुसलमान होते हुए भी एक ही स्थिति के नहीं थे। उनकी शिक्षा, दीक्षा और प्रवृत्तियों में मौलिक अन्तर था।

कबीर आत्मज्ञानी थे। प्रत्येक संकीर्ण साम्प्रदायिक भावना से वह मुक्त थे। वह हिन्दुओं के शैव, शाक्त, नाथ-पंथी, सहजयानी सिद्ध, निरंजन-पंथी आदि विभिन्न संप्रदायों के उतने ही विरोधी थे जितने मुसलमानों के विभिन्न सम्प्रदायों के। इसी प्रकार उन्होंने जहाँ हिन्दुओं में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था, आश्रम धर्म, अवतारवाद, पूजा, व्रत, तीर्थ आदि की खरी आलोचना वहाँ उन्होंने मुसलमानों में प्रचलित रोज़ा, नमाज, हज, सुन्नत आदि की भी खिल्ली उड़ाई। उन्होंने पंडितों को ही नहीं फटकारा; काज़ी, शेख़, मुल्ला आदि को भी चुनौती दी। ऐसा उन्होंने किसी नवीन मत की स्थापना के उद्देश्य से अभिभूत होकर नहीं किया। किसी नवीन समाज का निर्माण करना भी उनका उद्देश्य नहीं था। वह न तो सामाजिक क्रान्ति के पक्ष में थे और न धार्मिक क्रान्ति के समर्थक। उनका प्रधान उद्देश्य, प्रचलित धर्मों एवं समाजों के अनुयायियों की विविध विडंबनाओं की आलोचना कर उनका ध्यान मूल प्रश्न की ओर आकृष्ट करना था। जायसी का यह लक्ष्य नहीं था। वह जिस संप्रदाय में दीक्षित थे उसी का प्रचार करना उनका मुख्य उद्देश्य था। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में उन्होंने अपने समय के किसी भी सम्प्रदाय की आलोचना नहीं की। उनमें इस्लामी कट्टरपन नहीं था। उनकी दृष्टि में रोज़ा, नमाज़, सुन्नत और हज का जितना महत्त्व था उतना ही व्रत, पूजन, जनेऊ आदि का। उन्होंने न तो किसी के आचार-विचार की निन्दा की और न किसी संप्रदाय के सिद्धान्तों की। हृदय की शुद्धता, वाह्याचरण की पवित्रता, ईश्वर के प्रति अपार श्रद्धा, पारस्परिक सहानुभूति, विश्व-भ्रातृत्व, और विश्व-प्रेम आदि उच्च भावनाओं से उ-प्रेरित होकर उन्होंने बहुतों को अपनी ओर आकृष्ट किया जिसके फलस्वरूप मुसलमान ही नहीं; हिंदू भी अपना धर्म त्याग कर उनके सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये। कबीर इस भौतिक प्रपंच में नहीं पड़े। वह

न तो इस्लाम धर्म के प्रचारक थे और न किसी सम्प्रदाय के समर्थक। वह सत्य के अन्वेषक थे। उनकी बुद्धि जिस सत्य को स्वीकारती थी उसी का प्रकाशन वह निर्भीकतापूर्वक करते थे। कोई उनकी हाँ-में-हाँ मिलाता है या नहीं, कोई उनकी बातें मानता है या नहीं—इसकी उन्होंने चिन्ता नहीं की।

जायसी अपनी साम्प्रदायिक भावना से बँधे हुए थे। कबीर स्वतंत्र चिंतक और तत्त्वदर्शी थे। जायसी को अपने सिद्धांतों की खोज करने के लिए साधना नहीं करनी पड़ी। उन्हें पके-पकाए सिद्धान्त मिल गये और उन्हीं को उन्होंने अपना लिया। कबीर ने अपने सिद्धान्तों के लिए साधना की। उन्होंने किसी पके-पकाए सिद्धान्त को तबतक स्वीकार नहीं किया जबतक वह उनकी बुद्धि की कसौटी पर खरा नहीं उतरा। जायसी का जीवन सत्य के प्रयोगों का जीवन नहीं था। कबीर ने सत्य की खोज के अनेक प्रयोग किए थे। सत्य की उपलब्धि के लिए वह किसी सम्प्रदाय का सदस्य होना अनिवार्य नहीं समझते थे। उनका ऐसा विश्वास था कि सत्य की खोज सम्प्रदाय के संकुचित घेरे से बाहर रहकर ही की जा सकती है। अपने इस विश्वास के वह स्वयं उदाहरण थे। जायसी में इस प्रकार का विश्वास नहीं था। उनका सत्य 'परसंवेद्य सत्य' था। वह दूसरे के सत्य को ही अपना सत्य मानकर साधना के क्षेत्र में आगे बढ़े थे। कबीर का सत्य 'स्वसवेद्य सत्य' था। उन्होंने अनेक प्रयोगों के पश्चात् जिस सत्य को अपनाया वह उनका अपना था और उसी के आधार पर उन्होंने अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया।

सुधारवादी दृष्टि से भी जायसी और कबीर एक नहीं हैं। हम अन्यत्र बता चुके हैं कि जिस समय कबीर और जायसी ने धर्म-साधना के क्षेत्र में प्रवेश किया उस समय मोटे तौर से दो प्रकार के सुधारक और विचारक थे। एक प्रकार के सुधारक तो वे थे जो समस्त रूढ़ियों को स्वीकार करते हुए युगानुकूल उनकी नवीन व्याख्या कर रहे थे। ऐसे सुधारकों के जीवन दर्शन में यद्यपि प्राचीनता से कहीं विरोध अथवा वैषम्य नहीं लक्षित होता था, तथापि वह नया था। दूसरे प्रकार के सुधारक वे थे जो समस्त रूढ़ियों को अस्वीकार कर एक सर्वथा नवीन सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था चाहते थे। जायसी प्रथम प्रकार के और

कबीर दूसरे प्रकार के विचारक एवं सुधारक थे। जायसी का मत क़ुरान पर आधारित था; उनके विचार क़ुरान के विचार थे, उनकी सुधारवादी योजना क़ुरान के अनुसार थी। कबीर ने सबकी उपेक्षा की। उन्होंने न तो हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थों में विश्वास किया और न मुसलमानों के। वह अंधविश्वासी नहीं थे। उन्होने अपने विश्वास के अनुकूल ही अपना मार्ग बनाया था और इसी बात की शिक्षा वह दूसरों को भी देते थे। वह सबको आत्मचिन्तक और आत्म-विश्वासी बनाना चाहते थे। उनकी इसी प्रकार की मनोवृत्ति में उनके सुधारवादी दृष्टि का सार निहित था। जायसी में इस प्रकार की मनोवृत्ति नहीं थी। उनमें आग्रह था। साधना के क्षेत्र में वह विचार-स्वतंत्र्य को विशेष महत्त्व नहीं देते थे। जिस अंधविश्वास के आधार पर उन्होंने अपनी साधना का मार्ग बनाया था उसी अंधविश्वास के आधार पर वह दूसरों को भी अपनी साधना का मार्ग बनाने का प्रलोभन देते थे।

कबीर ने अपनी धर्म-साधना में लोक-पक्ष की प्रायः उपेक्षा की। वह अपने सत्य की खोज में, उसके स्वरूप की छान-बीन करने में इतने तन्मय रहे कि मानव-मानव के बीच जो रागात्मक संबंध होता है उसकी ओर उनकी दृष्टि नहीं गयी। उन्होंने कर्मकांडी पंडितों को फटकारा, मुल्लाओं की निन्दा की, योगियों की भर्त्सना की, पर जीवन के व्यवहार-पक्ष और उसकी संवेदनशीलता तक वह न पहुँच सके। ऐसी दशा में उनके सबद उनकी साखियाँ, उनकी रमैनियाँ—सब की सब ज्ञान की पिटारियाँ ही बनकर रह गयीं। जीवन के लिए ज्ञान ही नहीं, कुछ और भी चाहिए। वह 'कुछ और' उनसे हमें नहीं मिला। जायसी ने अपनी धर्म-साधना में इस 'कुछ और' की ओर भी ध्यान दिया। उन्हें अपने मत का प्रचार करने के लिए लोक-पक्ष के सहयोग की आवश्यकता समझी। इसलिए उन्होंने न तो उसकी कभी आलोचना की और न कभी उसकी भर्त्सना। उसकी जो स्थिति उनके सामने थी उसी को उन्होंने स्वीकार करके उसे अपने धर्म-प्रचार का साधन बनाया और उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों, को अपने काव्य के माध्यम से व्यक्त किया। ऐसी दशा में जहाँ कबीर की बानियाँ सत्संगों के अवसर तक ही सीमित रहीं, वहाँ जायसी का काव्य उत्तरी

भारत के प्रत्येक घर में पहुँच गया। लोक-पक्ष का अभाव कबीर को जायसी नहीं बना सका।

कबीर और जायसी की साधना-पद्धितियों में भी अन्तर है। इसमें सन्देह नहीं कि अपनी-अपनी साधना में दोनों अद्वैतवादी हैं, दोनों निर्गुणवादी हैं और दोनों रहस्यवादी हैं, पर दोनों का इनके संबंध में अपना अलग-अलग दृष्टिकोण है। जायसी की साधना-पद्धति सूफ़ियों की साधना-पद्धति है। सूफ़ी-साधना-पद्धति में परमात्मा के जिस रूप की प्रतिष्ठा की गयी है जायसी की उसी पर आस्था है। कबीर अपने 'परमतत्व-निरुपण' में किसी संप्रदाय विशेष की परंपरा से बंधे हुए नहीं हैं। वह अपनी साधना में स्वतंत्र हैं। इसलिए उन्होंने अपने परमतत्त्व की व्याख्या अपने ढंग से की है। जायसी ने अपने 'गुसाईं' को, सूफ़ी-परम्परा के अनुसार, केवल 'करतार' के रूप में प्रतिष्ठित् किया है और उसी को निर्गुण, निराकार, अजन्मा, अलख, अरूप, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, सर्वान्तरयामी आदि विशेषताओं से अभिहित करके एक की संख्या से आबद्ध किया है। कबीर इससे बहुत आगे हैं। वह कहते हैं :—

एक कहूँ तो है नहीं, दोय कहूँ तो गारि।
है जैसा तैसा रहै कहै कबीर विचारि॥

× × ×

मुसलमान का एक खुदाई।
कबीर का स्वामी घट-घट रह्या समाई।

× × ×

मुल्ला कहा पुकारै दूरि। राम रहीम रह्या भरपूर।

स्पष्ट है कि कबीर ने जिस परमतत्व की आराधना की है वह जायसी के 'करतार' के अतिरिक्त कुछ और भी है। जायसी का 'करतार' हिन्दुओं का 'ईश्वर' है; और कबीर का 'स्वामी' हिन्दुओं का 'ब्रह्म' है। ईश्वर 'ब्रह्म' का वह रूप है जसे हम सृष्टिकरता की संज्ञा देते हैं। ब्रह्म ने अपने ईश्वर-रूप में ही इस संसार की रचना की हैं, इसलिए वह अपने ईश्वर रूप में इस जगत का स्वामी है। मुसलमान और सूफ़ियों ने 'ब्रह्म' के ईश्वरत्व को ही सब-कुछ मानकर

अपने एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा की है। जिस प्रकार हिन्दुओं के ईश्वर का कोई ईश्वर नहीं है, उसी प्रकार मुसलमानों के अल्लाह का भी कोई अल्लाह नहीं है। वह 'ला इलाहे इल्लिल्लाह' है। कबीर उस ब्रह्म के उपासक हैं जिसमें हिन्दुओं के ईश्वर और मुसलमानों के अल्लाह दोनों स्थिति हैं, दोनों एक हैं। इसीलिए उन्होंने कहा है :—

हिन्दू तुरक का करता एकै ता गति लखी न जाई।
कहै कबीरा दास फकीरा, अपनी राहि चल भाई॥

कबीर के अद्वैतवाद की यही मूल भावना है। इसमें किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं है, छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, हिन्दू-मुसलमान सब एक हैं। जायसी का अद्वैतवाद सीमित और संकुचित है। उसमें मुसलिम और अमुसलिम का भेद-भाव बना ही रहता है। इस भेद-भाव को दूर करने के लिए उन्हें यह कहना पड़ा है :—

कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा!
नाम मुहम्मद पूनो-करा॥
प्रथम जोति विधि ताकर साजी।
और तेहि प्रीति सिहिट उपराजी॥
दीपक लेसि जगत कहँ दीन्हाँ।
भा निरमल जग, मारग चीन्हा॥
जौ न होत अस पुरुष उजारा।
सूझि न परत पंथ अंधियारा॥

जायसी पैग़म्बरी अद्वैतवादी हैं, कबीर शुद्ध अद्वैतवादी हैं। जायसी के लिए ईश्वर के समान ही पैगम्बर का महत्त्व है, कबीर केवल 'ब्रह्म' को ही सब कुछ समझते हैं और उसे ही राम, रहीम, करीम, गोविन्द, हरि, सद्गुरु आदि नामों से अभिहित करते हैं। इन नामों का उनके लिए व्यावहारिक दृष्टि से ही महत्त्व है, आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं। आध्यात्मिक दृष्टि से उस परमतत्त्व का कोई नाम हो ही नहीं सकता। उसका 'ब्रह्म' नाम भी सार्थक नहीं है। वह नाम और गुण से परे है। स्थूल रूप से उसके दो रूप हैं—व्यक्त और अव्यक्त। कबीर ने

मुख्यतः उसके अव्यक्त रूप का ही समर्थन जितने प्रकार से संभव हो सका है, किया है। उनके अव्यक्त ब्रह्म-निरूपण में उपनिषदों के अद्वैतवाद; बौद्धों के शून्यवाद और सूफ़ियों के नूरवाद के अतिरिक्त शब्दवाद, ज्योतिवाद आदि का समन्वय है। 'ब्रह्म' के व्यक्त रूप के सम्बन्ध में उन्होंने अपने जो विचार प्रकट किए हैं वे अधिकांश में भावनामूलक अथवा बुद्धिमूलक ही हैं। अपने भावना-मूलक विचारों के अन्तर्गत उन्होंने व्यक्त 'ब्रह्म' की प्रतिष्ठा सगुण और साकार रूप में की है। इसके विरुद्ध जहाँ उन्होंने 'ब्रह्म' के विराट रूप की कल्पना की हैं वहाँ उनकी अभिव्यक्ति बुद्धिमूलक हो गई है। जायसी की पहुँच 'ब्रह्म' के उक्त रूपों तक नहीं है। उनमें न तो स्वतंत्र चिन्तन है और न एक बंधे हुए घेरे से बाहर आने का साहस। अपने धर्म ग्रन्थ 'क़ुरान' से उन्हें जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उसी के अनुसार उन्होंने अपने 'गुसाईं' को चित्रित किया है।

जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में भी जायसी की कोई अपनी सूझ नहीं है। सूफ़ी मत के चिश्तिया सम्प्रदाय में जीवात्मा और परमात्मा के बीच जो सम्बन्ध स्वीकार किया गया है उसी सम्बन्ध को उन्होंने अपनी दो शैलियों में व्यक्त किया है—(१) विचारात्मक और (२) भावात्मक। विचारात्मक शैली के अन्तर्गत उन्होंने कर्ता और कृति, ईश्वर और जीव, तथा ब्रह्मांड और पिंड को अभेद मानकर शास्त्रीय पद्धति से उसकी विवेचना की है। वह कहते हैं :—

हुता जो एकहि संग, हौं तुम्ह काहे बीछुरा।
अब जिउ उठै तरंग, मुहमद कहा न जाय किछु॥
जौ उतपति उपराजै चहा। आपनि प्रभुता आप सौं कहा॥
रहा जो एक जल गुपुत समुंदा। बरसा सहस अठारह बुंदा॥
सोई अंस घटै घट मेला। औ सोई बरन-बरन होइ खेला॥
भए आपु और कहा गुसाईं। सिर नावहु सगरिउ दुनियाईं॥

× × ×

बुंदहि समुद समान, यह अचरज कासौं कहौं।
जो हेरा सो हेरान, मुहमद आपुहि आप महँ॥

× × ×

सातौ दीप, नवौ खंड, आठौ दिसा जो आहिं।
जो ब्रम्हंड सो पिंड है, हेरत अंत न जाहिं॥

× × ×

देखहु कौतुक आइ, रुख समाना बीज मँह।
आपुहि खोदि जमाइ, मुहम्मद सो फल चाखई॥

जायसी के उपर्युक्त विचारों से तुलना करने पर विशेष अन्तर नहीं भासित होता। कबीर भी हरि में पिंड और पिंड में हरि का निवास पाते हैं और कहते हैं :—

हेरत हेरत हे सखी, रह्य कबीर हिराय।
बून्द समाना समंद में, सो कत हेरी जाय॥

× × ×

हेरत हेरत हे सखी, रह्य कबीर हिराय।
समँद समाना बून्द में, सो कत हेरय जाय॥

× × ×

कौन विचार करत हौ पूजा।
आतमराम अवर नहिं दूजा॥

आत्मा और परमात्मा के इस सम्बन्ध को कबीर ने, भारतीय अद्वैतवादी परम्परा के अनुसार, अंशाशि भाव में स्वीकार किया है। 'कहु कबीर यह राम को अंश। जस कागद पर मिटै न मंसुरा।'—कहकर उन्होंने यही सिद्ध किया है कि जीव परमात्म का केवल अंश रूप है। वह मनुष्य, देव, योगी, यती, अवधूत, माता, पिता, पुत्र, गृही, उदासी, राजा, रङ्क, ब्राह्मण, बढ़ई, तपस्वी अथवा शेख़ कुछ भी नहीं है। वह मूलतः और तत्त्वतः वही है जो परमतत्व है। कबीर अपनी इस व्याख्या में जहाँ आत्मविश्वास के साथ आगे बढ़े हैं वहाँ जायसी अपनी साम्प्रदायिक परम्परा के समर्थक मात्र प्रतीत होते हैं। कबीर जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को स्पष्ट रूप में घोषित करते हैं, जायसी केवल उनकी एक रूपता घोषित करके ही मौन हो जाते हैं। 'दुइ दुइ लोचन

देखा। हम हरि बिनु अउर न देखा' की सी अनुभूतिपरक उक्ति जायसी के पास नहीं है।

भावात्मक शैली के अन्तर्गत अद्वैतवादी होने के कारण जायसी और कबीर दोनों रहस्यवादी हो गए हैं। दोनों जगत के नाना रूपों में एक अखंड सत्ता का आभास पाते हैं और उसके प्रति अपनी आसक्ति प्रकट करते हैं। भारतीय भक्ति-मार्ग में इस आसक्ति को 'माधुर्य भाव' की संज्ञा दी जाती हैं। कबीर और जायसी, दोनों ने माधुर्य भाव के अन्तर्गत अपनी-अपनी रहस्यवादी भावनाओं को चित्रित किया है। कबीर ने अपनी रहस्यवादी भावनाओं को जिस माधुर्य भाव के माध्यम से व्यक्त किया है वह सर्वथा भारतीय हैं। 'हरि मेरा पीव, मैं हरि की बहुरिया' में उनकी जो रहस्यवादी कल्पना और जो माधुर्य भाव हैं वह पति-पत्नी के माध्यम से व्यक्त हुआ है। कबीर परमात्मा को पति-रूप में और अपने को पत्नी-रूप में चित्रित करते हैं। पत्नी और पति का प्रेम ही भारतीय परंपरा के अनुसार आदर्श प्रेम है और कबीर ने इसी आदर्श प्रेम को अपने रहस्यवाद में प्रतिष्ठा की है। जायसी के रहस्यवाद में आशिक और माशूक—प्रेमी और प्रेमिका—का प्रेम है। कबीर का 'पति' है परमात्मा और 'बहुरिया' है जीवात्मा; जायसी का 'आशिक' है जीवात्मा और 'माशूक' है परमात्मा। इस प्रकार दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। प्रेमी और प्रेमिका का प्रेम जैसा असंयत, उच्छृखंल, अनियंत्रित और वासनाप्रधान होता है, जायसी उसी के पोषक हैं। जायसी में रूपासक्ति हैं, कबीर में रुपासक्ति नहीं है। कबीर विशुद्ध रहस्यवादी हैं। उनका रहस्यवाद आध्यात्मिक रहस्यवाद है। उन्होंने लौकिक प्रतीकों का आश्रय केवल जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को व्यक्त करने के उद्देश्य से लिया है। जायसी के रहस्यवाद में यही बात कथा के माध्यम से आई है जिसके कारण उन्हें अनेक प्रतीको का आश्रय लेना पड़ा है। अनेक प्रतीकों का आश्रय लेने से उसमें लौकिक पक्ष प्रधान और आध्यात्मिक पक्ष गौण हो गया है। इस दोष का परिमार्जन जायसी ने अन्त में 'उपसंहार' के अन्तर्गत किया है और यह बताया है कि कौन किसका प्रतीक है। कबीर के रहस्यवाद में इस प्रकार के उलझन की संभावना नहीं है।

जायसी और कबीर, दोनों ने अपनी-अपनी रहस्य-भावना के अन्तर्गत वियोग और संयोग के चित्र उतारे हैं। वियोग ही सच्चे प्रेम की कसौटी है। इस कसौटी पर खरा उतरने के लिए जो पीर, जो कसक और जो विह्वलता हृदय में होनी चाहिए वह कबीर में भी है और जायसी में भी। वियोग की विभिन्न अन्तर्दशाओं और उसकी परिस्थितियों के चित्रण भी दोनों में मिलते हैं। फिर भी दोनों में अन्तर है। जायसी के वियोग-वर्णन में लौकिकता अधिक है। उसमें 'नागमती' ही नहीं रोती, सारी प्रकृति उसके साथ संवेदनशील हो उठती है। ऐसा वर्णन अधिकांश में काव्यात्मक ही कहा जायगा। कबीर का वियोग-वर्णन इस प्रकार का नहीं है। उन्होंने लौकिक-पक्ष का आश्रय लेते हुए भी उसमें आध्यात्मिक पक्ष को प्रधानता दी है। जायसी की नायिका की यह कामना—

या तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाय।
मकु तेहि मारग उड़ि पड़ौं, कंत धरै जहं पांव॥

जहाँ लौकिक पक्ष से ओतप्रोत है, वहाँ कबीर की यह साध —

यहु तन जालौं मसि करौं, ज्यों धुआँ जाइ सरगि।
मति वै राम दया करैं, बरसि बुझावै अगि॥

विशुद्ध आध्यात्मिक है। इसमें किसी प्रकार की पार्थिव कामना नहीं है। उनकी यही कामना उनके संयोग-वर्णन में भी हमें मिलती है। मिलन का पूर्ण निश्चय होने पर साधक रूपी नायिका का हृदय जिन मिलन-जनित विचित्र और मनोरम अनुभूतियों से भर जाता है उनके चित्रण की ओर जायसी ने भी ध्यान दिया है और कबीर ने भी। जायसी की नायिका कहती हैं :—

अनचिन्ह पीऊ, कांपै मन माहा।
का मैं कहब गहब जो बांहा॥

इसी बात को कबीर यों कहते हैं:—

थरहर कंपै बाला जीऊ। ना जानउ किया करसी पीव॥

इसके पश्चात् मिलन की अवस्था आती है। ऐसी अवस्था आने पर विवाह का उपक्रम होता है। कबीर और जायसी दोनों ने अपनी अपनी रहस्य-

भावना के अंतर्गत इसका विधान किया है। जायसी के विवाह-वर्णन मे आनंदोत्सव और भोज की जितनी चटकमटक है उतनी आध्यमिकता की नहीं है। कबीर का विवाह-वर्णन आध्यात्मिक है। 'दुलहिन गावो हो मङ्गलचार हम घरि आयो राजाराम भरतार' —में उनकी जो आध्यात्मिक कामना है, वही साधकों का सर्वस्व है। अपनी इसी कामना से प्रभावित होकर उन्होंने संयोग-शृङ्गार के वर्णन में बड़े संयम से काम लिया है। संयोग के अवसर पर पत्नी (जीवात्मा) अपने पति (परमात्मा) से अंक भर भर भेंटती है, अपने सौभाग्य की सराहना करती है और जिस अनिर्वचनीय आनन्द का वह अनुभव करती है उसे वह अपने पति की देन समझती है। वह उसे किसी प्रकार जाने नहीं देना चाहती। उसके लिए भारतीय पत्नी की भाँति वह उनके चरणों पर गिरकर कहती है — 'अब तोहि जान न दैहूँ, राम प्यारे। ज्यों भावै त्यूँ होउ हमारे॥' इस प्रकार का मिलन होने पर पत्नी, पति के व्यक्तित्व में समाकर, अपना अस्तित्व खो देती है। यही साधक की अन्तिम कामना है। जायसी अपने संभोग-शृंगार में इस कामना तक नहीं पहुँच सके हैं।

जीवात्मा और परमात्मा के उक्त मिलन में बाधक है माया, मनका अहंकार। जायसी और कबीर दोनों ने इसकी निन्दा की है और इन्हें त्याज्य कहा है। जायसी कहते हैं :—

गरब करै जो हौं, हौं, करई।
बैरी सोइ गोसाइँक अहई॥

× × ×

जो जानै निश्चय है मरना।
तेहिका कहँ 'मोर तोर' का करना॥

इसी प्रकार कबीर ने माया की निन्दा करते हुए कहा है :—

माया-मोह, धन जोवना, इन वन्धे सब लोय।
झूठै झूठ वियापिया, अलख न लखई कोय॥

× × ×

कबिरा माया पापणीं हरि सूँ करै हराम।
मुखि कुड़ियाली कुमति की, कहन न देई राम॥

कबीर ने मनको माया का निवास-स्थान माना है। 'इक डायन मेरे मन बसै, नित उठ मेरे मन को डसै'--कहकर उन्होंने यही बात प्रकट की है। उनकी दृष्टि में मान, आशा, तृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि सब माया के ही संगी साथी हैं। इनसे छुटकारा पाने के लिए उन्होंने आत्मशुद्धि पर विशेष बल दिया है। आत्मशुद्धि के लिए उन्होंने किसी साधना-पद्धति अथवा धर्म विशेष द्वारा विधि-विधानों का निर्देश न करके अधिकतर उन नैतिक बातों पर बल दिया है जिनके आचरण से समाज में किसी प्रकार का मिथ्याडंबर फैलने की आशका नहीं हो सकती। उनके निर्देश कहीं तो विधि के रूप में हैं और कहीं निषेध के रूप में। इन निर्देशों के आचरण में कठिनाई आने पर वह एक सहज उपाय बताते हैं जो इस प्रकार है :—

कहत कबीर सुनहु रे प्रानी छाड़हु मन के भरमा।
केवल नाम जपहु रे प्रानी, परहू एक के सरना॥

माया के इन्द्रजाल से मुक्त होने के लिए कबीर का यही मूल मंत्र है। जायसी ने ऐसी स्थिति में इस्लाम-धर्म में दीक्षित होने के लिए लोगों को आमंत्रित किया है। अन्य धर्मों के प्रति अपना सम्मान प्रकट करते हुए वह कहते हैं :—

सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा।
है निर्मल कैलास बसेरा॥
लिखि पुरान विधि पठवा साँचा।
भा परवाँन, दुऔ जग बाँचा॥
सुनत ताहि नारद उठि भागै।
छूटै पाप, पुन्नि सुनि लागै।
वह मारग जो पावै, सो पहुँचे भवपार।
जो भूला होइ अनतहि तेहि लूटा बटपार॥

जायसी अपनी साधना में इस्लाम के प्रचारक हैं; कबीर अपनी साधना में न तो किसी धर्म विशेष के प्रचारक हैं और न किसी मत के प्रवर्तक। वह शुद्ध सन्त और ज्ञानी भक्त हैं। उनका आरम्भ से अन्त तक एक ही रूप है। जायसी

पहले मुसलमान हैं, इसके पश्चात् साधक। उनकी साधना का उद्देश्य यदि कुछ है तो वह है इस्लाम का प्रचार। 'पदमावत' में सारी कथा कहने के पश्चात् उनका यह कहना कि 'चितउर भा इस्लाम' और 'अखरावट' में उनका यह कथन कि 'ना-नमाज है दीन का थूनी। पढ़ै नमाज सोइ बड़ गूनी॥' उन्हें इस्लाम का प्रचारक ही सिद्ध करता है। कबीर ऐसी संकुचित भावना से बहुत ऊँचे उठे हुए हैं। उन्होंने माया से मुक्त होने के लिए जो बात बताई है वह सब जाति के लिए है, सब धर्मावलंबियों के लिए है, समस्त मानव-समुदाय के लिए है, समस्त परिवारों के लिए है।

कबीर ज्ञानी भक्त हैं, जायसी केवल मुसलमान संत। कबीर की भक्ति निष्काम है, जायसी की सकाम। कबीर ने ज्ञान और भक्ति दोनों को अपनी साधना में स्थान दिया है। वह ज्ञानी हैं इसलिए कि ज्ञान-द्वारा वह अपने परमतत्त्व का परिचय प्राप्त करते हैं और भक्त हैं इसलिए कि अपने परमतत्त्व का यथार्थ परिचय पाने के पश्चात् वह उससे प्रेम करने लगते हैं। उनका यही प्रेम सयोग और वियोग के रूप में उनकी रहस्यवादी रचनाओं द्वारा व्यक्त हुआ है और इसी प्रेम के आधार पर धीरे-धीरे उन्होंने अपनी भक्ति का विकास किया है। जायसी की साधना एक सम्प्रदाय विशेष से प्रभावित है। सूफ़ी-मत में दीक्षित होने के कारण वह अपनी साधना में उन्हीं परिस्थितियों से गुज़रे हैं जो सूफ़ी-मत में मान्य हैं। वह पक्के सूफ़ी हैं; उच्च कोटि के साधक हैं, पहुँचे हुए सन्त हैं—इससे इन्कार नहीं, पर कबीर की साधना अपने में अनूठी है, अपने में महान् है। जायसी अपनी साधना में उस गहराई तक नहीं पहुँचे हैं जिस गहराई तक कबीर ने पहुंचकर अपनी साधना का मार्ग खोज निकाला है।

कबीर और जायसी दोनों ने अपनी-अपनी साधना में गुरु का महत्त्व स्वीकार किया है। दोनों ने यह माना है कि जीवात्मा को माया-मोह के बन्धन से मुक्त तथा उसे परमतत्त्व का परिचय कराने में गुरु का ही हाथ रहता है। जायसी कहते हैं :—

बिन गुरु जगत को निरगुन पावा ?

× × ×

दा दाया जा कहँ गुरु करई।
सो सिख पंथ समुझि पग धरई॥
सात खंड और चारि निसेनी।
अगम चढ़ाव, पंथ तिरबेनी॥
तौ वह चढ़ै जौ गुरू चढ़ावै।
पाँव न डगै, अधिक बल पावै॥
जो गुरु सकति भगति सा चेला।
होइ खेलार खेल बहु खेला॥
जो अपने बल चढ़ि कै नाँघा।
सो खसि परा, टूटि गई जाँघा॥

और इतना कहने के पश्चात वह यह भी बताते हैं कि,

साँची राह सरीअत, जेहि बिसवास न होइ।
पाँव राखि तेहि सीढ़ी निभरम पहूँचे सोइ॥

कबीर गुरु की महिमा का उद्घोष करते हुए भी किसी मत में दीक्षित होने के लिए किसी को आमंत्रित नहीं करते। वह कहते हैं :—

गुरु बिन यह जग कौन भरोसा, काके संग ह्वै रहिए।

× × ×

कहै कबीर सकति कछु नाहीं, गुरु भया सहाई।
आवण-जाणी मिट गई, मन मनहिं समाई॥

कबीर के गुरु अपने शिष्य को 'आवण-जाणी' से, आवागमन से मुक्त करनेवाले हैं। ऐसे गुरु परमात्मा की विशेष कृपा होने पर ही जीव को प्राप्त होते हैं। 'जब गोविंद कृपा करी, तब गुरु मिलिया आइ।'—से उनका यही तात्पर्य है। गोविंद की कृपा से मिलनेवाला गुरु उनकी दृष्टि में नर-रूप में परमात्मा ही हैं। 'गुरु गोविंद तौ एक है, दूजा यहु आकार।'--में उन्होंने अपनी इसी भावना को व्यक्त किया है। 'गुरु गोविंद दोनों खड़े, काके लागौं पाँव'—में तो उन्होंने गुरु को परमात्मा से भी ऊँचा स्थान दिया है। जायसी अपनी गुरु-

महिमा में इतने ऊँचे नहीं उठे हैं। वह गुरु की आवश्यकता और इस्लाम धर्म की विशेषता बताकर ही छुट्टी पा गए हैं।

कबीर की दृष्टि में आत्मविचार का विशेष महत्व है। वह बुद्धिवादी हैं, अंधविश्वासी नहीं। वह ज्ञानी हैं, आत्मविचारक हैं। गुरु का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी वह आत्मविचार पर इसलिए बल देते हैं कि गुरु जिस सत्य की ओर केवल संकेत कर देता है, शिष्य को उसे प्राप्त करने के लिए स्वयं विचार करना पड़ता है। सत्य-असत्य की परख आत्मविचार-द्वारा ही होती है। आत्म विचार से कबीर का तात्पर्य है :—

रे रे मन बुधिवंत भंडारा। आप आप ही करहु विचारा॥
कवन सयान, कवन बौराई। किहि दुख पइए, किहि दुख जाई॥
कवन हरिष, को विस मैं जाना। को अनहित, को हितकरि माना॥
कवन सार, को आहि असारा। को अनहित, को आहि पियारा॥
कवन साच, कवन है झूठा। कवन करु, को लागै मीठा॥
को बोहित, को केवट आही। जिमि तिरियै सो लीजै चाही॥

इस प्रकार आत्मविचार-द्वारा वह इस निश्चय पर पहुँचे हैं :—

समुझि विचारि जीव जब देखा। यह संसार सुपिन करि लेखा॥
भई बुद्धि, कछु ज्ञान निहारा। आप आप ही किया विचारा॥
ताकै चीन्हैं परचा पावा। भई समुझि, तासूं मन लावा॥

जायसी की साधना में आत्मविचार का कोई मूल्य नहीं है। वह अपने धर्म की परंपराओं से बंधे हुए हैं और उनमें विश्वास करने के लिए बाध्य हैं।

जायसी ने सृष्टि का वर्णन विस्तार के साथ किया है, और कबीर ने केवल संकेत-रूप में। जायसी मुसलमान संत और अपने धर्म के प्रचारक थे। इसलिए उन्हें अपने धर्म के महत्त्व को स्थापित करने के लिए सृष्टि की उत्पत्ति पर विस्तार के साथ विचार करना आवश्यक था। कबीर केवल संत थे। उनके सामने अपने धर्म-प्रचार का कोई आदर्श नहीं था। ऐसी स्थिति में वह सृष्टि की उत्पत्ति के तर्क-वितर्क में नहीं पड़े। उनकी साधना में इसका विशेष महत्त्व भी नहीं था। इसलिए कहीं भी उन्होंने व्यवस्थित रूप से उस पर विचार नहीं किया।

उनमें सृष्टि-उत्पत्ति सम्बन्धी जिज्ञासा थी जिसका समाधान उन्होंने वेदान्त के अनुसार 'ओंकार' से सृष्टि की उत्पत्ति को स्वीकार किया था। उनका विश्वास न तो सूफ़ियों के 'नूरवाद' में था और न बौद्धों के 'शून्यवाद' में। वह प्रकृति को ब्रह्मोद्भव और ब्रह्माश्रित मानते थे। उनका कहना था कि ब्रह्म ही प्रकृति की उत्पत्ति और उसके विनाश का कारण है। वह उस बाजीगर के समान है जो अपना खेल दिखाने के पश्चात अपनी सम्पूर्ण सामग्री पुनः बटोर लेता है। इस प्रकार वह सृष्टि-कर्ता में सृष्टि और सृष्टि में सृष्टिकर्ता को ओतप्रोत मानते थे। वह कहते हैं:—

बाजीगर डंक बजाई। सब खलक तमासे आई॥
बाजीगर स्वांग सकेला। अपने रंग रवै अकेला॥

जायसी ने सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन दो स्थानों पर किया है—एक तो 'पद्मावत' के स्तुति-खण्ड के अन्तर्गत और दूसरा 'अखरावट' में। इन दोनों में उनके दो दृष्टि कोण हैं। 'पद्मावत' में सृष्टि का जो वर्णन है वह इस्लाम के 'नूरवाद' से प्रभावित है। उसमें हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों की भावनाओं का मेल भी है। उसमें जहाँ एक ओर पुराणों के 'सप्तद्वीप' और 'नव खण्ड' हैं वहाँ दूसरी ओर 'नूर' की उत्पत्ति भी है। उसमें यह इस्लामी विश्वास भी है कि ईश्वर ने पहले नूर (पैग़म्बर) की उत्पत्ति की और मुहम्मद ही के लिए स्वर्ग और पृथ्वी की रचना की। सृष्टि का यह पैग़म्बरी वर्णन किसी तात्विक क्रम पर नहीं है। 'अखरावट' में जायसी ने तात्विक दृष्टि से सृष्टि की उत्पत्ति पर विचार किया है। उनका कहना है कि सृष्टि के पूर्व ईश्वर अपने को अपने में समेटे हुए था। वह इस संसार रूपी वृक्ष का वज्र के समान स्थिर बीज मात्र था। उस बीज के अंकुरित होने पर उसमें से दो पत्ते निकले—एक चिर-तत्व, दूसरा पार्थिव तत्व। इन्हीं दो से फिर अनेक प्रकार की चराचर सृष्टि हुई। एक वृक्ष की दो डालियाँ हुईं—एक चेतन तत्व अर्थात जीवात्मा और दूसरा अचेतन तत्व अर्थात प्रकृति। चित् पुरुष पक्ष अथवा पितृ पक्ष है और अचित् प्रकृति पक्ष अथवा मातृ पक्ष है। चित् सूक्ष्म है, अचित् स्थूल। जायसी के इस सृष्टि वर्णन पर भारतीय दर्शन का पूर्ण प्रभाव है। उसमें आदम-हौवा और मुहम्मद की उत्पत्ति का समा

वेश करके उन्होंने उस पर इस्लामी रंग चढ़ा दिया है। इस प्रकार कबीर और जायसी सृष्टि-उत्पत्ति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु जहाँ संसार की क्षण-भगुरता का प्रश्न है, दोनों एक हैं। दोनों ने संसार को स्वप्नवत् माना है और उसके प्रति आसक्ति की भर्त्सना की है।

साहित्यिक दृष्टि से भी कबीर और जायसी में अन्तर है। जायसी साधक होने के साथ-साथ कवि भी हैं। उन्हें काव्य-शास्त्र का पूरा ज्ञान हैं। कबीर केवल साधक हैं। वह काव्य-शास्त्र की बारीकियों से अपरिचित हैं। उन्होंने अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए ही कविता की है। उनका उद्देश्य न तो अपना पांडित्य प्रदर्शन है, और न कवि होने की लालसा। जायसी इन दोनों उद्देश्यों से अभिभूत हैं। 'औ मैं जानि गोत अस कान्हा। मकु यह रहै जगत मँह चीन्हा॥' में उन्होंने जहाँ अपनी रचना को 'चीन्हां' के रूप में छोड़ने की कामना प्रकट की है वहाँ उन्होंने अपने वस्तु-वर्णन में अपना पांडित्य-प्रदर्शन भी किया है। उनमें काव्य की सभी विभूतियाँ हैं। अलंकार और रस से उनका पूरा परिचय है और वह उनका स्वाभाविक ढंग से प्रयोग करते हैं। छन्दों में उन्होंने केवल दोहा-चौपाई का ही प्रयोग किया है। कबीर की रचनाओं में अनायास ही रस और अलंकार की सृष्टि हुई है। इसी प्रकार छन्दों का आयोजन भी उन्होंने अपने विषय के अनुरूप ही किया है। शास्त्रीय दृष्टि से उसमें अनेक दोष अवश्य हैं, पर वे है कबीर की आत्मा के अनुकूल। उसमें विविधता भी है। कबीर ने साखियाँ, सबद, रमैनी तथा अन्य प्रकार के प्रचलित छन्दों का प्रयोग बड़ी सफलता के साथ किया है। इन छन्दों की भाषा अटपटी है। उसका कोई निश्चित रूप नहीं है! वह न अवधी है, न ब्रज, न राजस्थानी और न पंजाबी, वरन् वह एक सामान्य भाषा का रूप है। जायसी की भाषा अवधी है जिसमें संस्कृत, फ़ारसी और अरबी के तद्भव शब्दों का बाहुल्य है।

यहाँ तक हमने कबीर और जायसी की साधना-पद्धतियों और उनकी काव्य-शैलियों पर तुलनात्मक दृष्टि से जो विचार किया है उससे हमारा तात्पर्य किसी को छोटा अथवा बड़ा सिद्ध करने का नहीं है। दोनों के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं और दोनों अपनी-अपनी साधना में अद्वितीय है। कबीर को अपने समय में

जो ख्याति मिली जायसी को अपने समय में उससे कम ख्याति प्राप्त नहीं हुई। दोनों अपने-अपने समय में आदर्श साधक माने जाते थे। दोनों का सर्वत्र सम्मान था; दोनों पूजे जाते थे। कबीर पूजे जाते थे अपने ज्ञान के कारण; जायसी पूजे जाते थे अपने प्रेम की पीर के कारण। कबीर में निर्भीकता थी, स्पष्टवादिता थी, आत्मविश्वास था। वह कभी किसी बात को लपेट-सपेट कर नहीं कहते थे। उन्हें जो कहना होता था उसे वह स्पष्ट और निडर होकर कहते थे। वेद और .कुरान की उन्होंने निन्दा नहीं की, पर वाह्याडंबर के प्रपंच में फँसे हुए लोगों को उन्होंने जी भरकर भर्त्सना की और उनके सामने आत्म-विचार का आदर्श रखा। जायसी स्वयं अपने धर्म के वाह्याडंबरों में फंसे हुए थे, इसलिए वह कहते भी तो क्या कहते! ऐसी दशा में उन्होंने मौन ही रहना श्रेयस्कर समझा। वह अपनी इस दुर्बलता से परिचित और कबीर की कठोर साधना से अत्यधिक प्रभावित थे। अखरावट में जब नारद (शैतान) रोता हुआ यह कहता है कि—'एक जुलाहे सौं मैं हारा।'—तब जायसी की उदारता के साथ साथ हमें कबीर के चारित्रिक बल का यथेष्ट प्रमाण मिल जाता है। शैतान की हार में ही कबीर की विजय का रहस्य है। जायसी ने इस विजय को स्वीकार करके कबीर को अपनी दृष्टि में ऊँचा ही नहीं उठाया, अपितु उन्हें साधना के उस आसन पर आसीन कर दिया है जहाँ से उन्हें कोई हटाने का साहस नहीं कर सकता।

हिन्दी-साहित्य में कबीर का स्थान

अबतक हमने धार्मिक एवं साहित्यिक दृष्टिकोण से कबीर के कृतित्व की जो आलोचना प्रस्तुत की है उससे स्पष्ट है कि वह अपने युग के स्वतंत्र विचारक थे। उनकी आत्मा विद्रोही आत्मा थी। उन्हें जो बात जंच जाती थी उसके लिए वह किसी से समझौता करना नापसंद करते थे। उनका मस्तिष्क और हृदय इतना जागरुक और इतना संतुलित था कि उन्हें किसी निर्णय पर पहुँचने में देर नहीं लगती थी। वह जीवन और धर्म में सत्य के उपासक थे। उनका संपूर्ण जीवन सत्य के प्रयोगों से भरा हुआ था। उन्होंने धर्म को अपने जीवन में, और जीवन को अपने धर्म में इतना आत्मासात कर लिया था कि दोनों में कोई अन्तर ही नहीं

दीख पड़ता था। वह भीतर और बाहर से एक थे। .कुरान और वेद के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी उन्होंने उनके निर्धारित सत्य को सत्य के रूप में तबतक स्वीकार नहीं किया जबतक वह उनकी मानसिक कसौटी पर खरा नहीं उतरा। किसी सुनी-सुनाई बात पर उन्हें विश्वास नहीं था। वह आत्मविश्वासी थे, अंधविश्वासी नहीं। धर्म और साधना के क्षेत्र में वह आत्मविचार को महत्व देते थे। ऐसे थे वह और ऐसी थी उनकी मान्यताएँ। एक साधारण मुसलमान जुलाहे के कुल में जन्म लेकर उन्होंने अपने उक्त विचारों के कारण अपने वंशजों का ही उद्धार नहीं किया, अपितु समस्त मानव-जाति का कल्याण किया।

कबीर मुसलमान थे। उनका धर्म राज-धर्म था। वह चाहते तो राजकीय गरिमा से विभूषित हो सकते थे, परन्तु उन्होंने उसका तिरस्कार किया। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने विश्वासों और सत्य के प्रयोगों के आधार पर मुल्लाओं, पीरों, शेख़ों और क़ाज़ियों की ऐसी खबर ली कि सब निरुत्तर हो गये। कहाँ दीन कुल में पला हुआ एक साधारण जुलाहा और कहाँ मुल्ला और शेख़! ऐसा था उनका साहस और ऐसी थी उनमें निर्भीकता। अपने इसी साहस और इसी निर्भीकता के आधार पर उन्होंने उन कर्मकाण्डी पंडितों, हठ-योगियों, और शाक्तों को भी फटकारा जो धर्म के नाम पर अपना उल्लू सीधा कर रहे थे। उन्होंने किसी को नहीं छोड़ा। उन्हें जीवन में जहां कहीं भी अंध-विश्वास, आडंबर और पाखाण्ड दिखायी दिया, वहाँ उन्होंने उसकी खुलकर निन्दा की। उन्हें किसी का भय नहीं था। वह इस चिन्ता में भी नहीं रहते थे कि कौन उनसे प्रसन्न होता है और कौन उनसे रूष्ट। उन्हें अपने काम से काम था। वह अपनी धुन में मस्त रहते थे और जिसे वह सत्य समझते थे उसी को वह अपनी वाणी द्वारा व्यक्त करते थे। वह स्वयं कहते हैं :—

तुम्ह जिनि जानौं गीत है, यहु निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समझाइया, आतमसाधन सार॥

कबीर का समय भारत की सांस्कृतिक अवस्था के उतार का समय था। उस समय जातीय संघर्ष के साथ-साथ धार्मिक संघर्ष भी उठ खड़ा हुए थे।

चारों ओर अधर्म, पाखण्ड, आडंबर का बोलबाला था और जनता मोक्ष की कामना से उत्प्रेरित होकर ऐसे साधु-संतों के चक्कर में फँसती जा रही थी जो स्वार्थी, कपटी और पाखंडी थे। सामाजिक संगठन की ओर तो किसी का ध्यान भी नहीं था। ऐसी परिस्थिति में कबीर ने जन्म लेकर एक ओर तो पंडितो, मुल्लाओं, योगियों और यतियों के पाखंडपूर्ण जीवन को चुनौती दी और दूसरी ओर जाति-पांति का भेद मिटाकर मानव-धर्म में दीक्षित होने के लिए लोगों को उत्साहित किया। इस दृष्टि से कबीर अपने समय के धार्मिक और सामाजिक नेता थे। उन्होंने हिन्दुओं के उस वर्ग का, जो वर्ण-व्यवस्था के कठोर नियमों के अन्तर्गत कराह रहा था और मुसलमानों के उस वर्ग का, जो इस्लामी भ्रातृ-भावना के होते हुए भी उपेक्षित और वहिष्कृत था, सफल नेतृत्व किया। उनके नेतृत्व से पतित जनता को पर्याप्त बल मिला। उसके जीवन में सुधार की प्रवृत्ति जागरुक हो उठी और वह अपने जीवन, अपने समाज और अपने धर्म के प्रति एक नए दृष्टिकोण से विचार करने लगी। उसमें कुछ ऐसे विचारक संत और भक्त भी उत्पन्न हुए जिन्होंने अपनी वाणी से हिन्दी का शृङ्गार किया और उसके भविष्य को प्रभावित किया। तत्कालीन हिन्दी के भक्ति-साहित्य को यह कबीर की महत्त्वपूर्ण देन थी।

कबीर व्यक्तिवादी थे। वह व्यक्ति की उन्नति में ही समाज की उन्नति समझते थे। इसलिए कुसंस्कार और आडंबर में फँसे हुए लोगों पर ही वह चोट करते थे। उनका युग व्यक्तिवादी सत्ता का युग था। पीर, शेख़, मुल्ला, मौलवी, योगी, यती, पंडित और वैरागियों ने ही समाज पर अधिकार जमा लिया था और वे ही उसका नेतृत्व कर रहे थे। एक ही समाज के भीतर कोई नाथ-पंथी, कोई शाक्त, कोई शैव, कोई यती, कोई सूफ़ी—भाँति-भाँति के व्यक्ति दिखाई देते थे। इससे समाज विच्छृङ्खल हो रहा था और उसकी सत्ता नष्ट हो रही थी। कबीर ने ऐसे विभिन्न सम्प्रदायों के व्यक्तियों के सामने ब्रह्म की उपासना का आदर्श रखा और उन्हें एक सूत्र में बंध जाने का उपदेश दिया। इससे समाज की हिलती हुई नींव को बल मिला और व्यक्तियों में सामाजिक चेतना उत्पन्न हुई। कालांतर में इसी सामाजिक चेतना के फल स्वरूप जायसी

और तुलसी इतना सफल महाकाव्य लिखने में समर्थ हुए। यदि कबीर ने पहले से इन दोनों महाकवियों के लिए क्षेत्र न तैयार कर दिया होता तो संभव था कि हम उनकी अमर रचनाओं से वंचित रह जाते।

कबीर साहित्य के मर्मज्ञ या आचार्य नहीं थे। साहित्य शास्त्र का अध्ययन तो दूर, उन्हें लिखना-पढ़ना तक नहीं आता था। फिर भी वह कवि थे। उन्होंने जो कुछ कहा, काव्य के माध्यम से ही कहा और जी खोल कर कहा। उनके पास अनुभव के रूप में विचारों की अतुल संपत्ति थी; उनके हृदय में भावों का अमर कोष था; उनमें अद्भुत प्रतिभा और विलक्षण विवेक-शक्ति थी; उनके मन और मस्तिष्क में अद्भुत समन्वय था। उनके सामने हिन्दी की सामान्य भाषा का रूप था। ऐसी स्थिति में उनके मुख से जो कुछ भी निकला वह काव्य का परिधान पहनकर ही निकला। उनका साहित्य उनके हृदय की प्रेरणा, उनके मस्तिष्क की विचार-धारा और उस प्रेरणा एवं विचार-धारा का प्रचलित भाषा में सहज भाव से स्पष्टीकरण है। उसमें न तो शब्द-चातुर्य है, न अलंकार-शास्त्र का पांडित्य और न छन्दों की उछल-कूद। उसमें केवल भावना की पुट के साथ विचारों का प्राधान्य है। कबीर जनता के कवि थे और उन्होंने जनता के कल्याण के लिए ही अपना मुख खोला था। उनका उद्देश्य काव्य-कौशल दिखाना नहीं, रूढ़िवादी समाज के व्यक्तियों को सचेत और जागरूक करना था। इसलिए उन्होंने वही कहा जिसका जन-जीवन से संबंध था। इसके लिए उन्होंने दो शैलियाँ अपनाईं—एक विधि-शैली और दूसरी निषेध-शैली। विधि-शैली के अन्तर्गत उन्होंने गुरु की महिमा, सत्संग का प्रभाव, भाग्यवाद, जन्मान्तरवाद, आवागमन, मुक्ति, जीवन-मुक्ति, भ्रातृभाव, आत्मशुद्धि आदि के साथ-साथ अपने विचारों और सिद्धान्तों की चर्चा की और निषेध-शैली के अन्तर्गत उन्होंने वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-धर्म, लोकाचार, साम्प्रदायिक मत-भेद एवं उन वाह्याडंबरों की कटु आलोचना की जिनके कारण समाज विच्छृङ्खल होता जा रहा था। इन नैतिक विचारों के अतिरिक्त उन्होंने अपनी रहस्य-भावना के अन्तर्गत संयोग और वियोग के जीवन-स्पर्शी चित्र भी उतारे और उलटवाँसियाँ, समासोक्ति, अन्योक्ति, सूक्तियाँ आदि लिखकर कई काव्य-शैलियों का निर्वाह किया। इस प्रकार उन्होंने

अनजाने हमें कई प्रकार की काव्य-शैलियाँ दीं, सामान्य भाषा का एक रूप दिया, और दी एक ऐसी विचार-धारा जो कई शताब्दियाँ बीतने पर भी अपने में चिर नवीन और शाश्वत है। उनके काव्य में उनके युग की आत्मा की सिहरन, उसकी कसक, उसकी विह्वलता, उसकी विवशता, उसकी भूख और उसकी तृष्णा है और हम उसमें उनके युग का इतिहास पढ़ सकते हैं। उनका यह काव्य-कौशल किसी महाकवि के काव्य-कौशल से कम नहीं है। अपनी इस विशेषता के कारण वह हिन्दी-संत-कवियों में सर्वोच्च और सर्वश्रेष्ठ हैं।

—o—